नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति

निमित्त निमित्तमात्रं भव!

विश्वविद्यालय परिसर की रचनात्मक अभिव्यक्ति का समवेत प्रयास

त्रैमासिक ई-पत्रिका

(UGC approved Journal No. 46994)

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

नैक द्वारा ‘A’ ग्रेड प्राप्त

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

संरक्षक
प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा–442001 (महाराष्ट्र)

परामर्श
प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट– हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा–442001 (महाराष्ट्र)

संयोजन–संपादन
डॉ. शंभू जोशी
सहायक प्रोफेसर
श्री गिरीश चंद्र पाण्डेय
प्रभारी, लीला

रचना भेजने का पता
nimitta@hindivishwa.org

आवरण एवं साज–सज्जा
श्री पवन कुमार
निजी सचिव, प्रतिकुलपति कार्यालय

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशक
कुलसचिव
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट– हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा–442001 (महाराष्ट्र)

नोट- प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संयोजक-संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

अनुक्रम

आलेख | पृ.सं.

पदमा बनाम लिली : प्रेम/विवाह का अंतर्द्वन्द्व — 4
डॉ. अशोक नाथ त्रिपाठी

मानवाधिकार एवं सांस्कृतिक सापेक्षतावाद — 10
डॉ. शंभू जोशी

जातिनिर्मूलन एवं डॉ. अंबेडकर — 15
उमेश कुमार सिंह

समाज की मान्यताओं को तोड़ती मित्रो मरजानी — 21
आलोक कुमार शुक्ल

महावीर प्रसाद द्विवेदी और सरस्वती — 25
प्रदीप त्रिपाठी

आधी आबादी की शैक्षिक स्थिति — 30
सुमित गंगवार

सामाजिक अनुसंधान और तकनीकी विकास — 37
अनुराग कुमार पाण्डेय

शांतिनिकेतन में गांधीजी — 45
बिजय कुमार रबिदास

सामाजिक परिवर्तन : एक अध्ययन — 55
प्रियंका शर्मा

आधुनिक विज्ञान की स्त्रीवादी आलोचनाः सैद्धांतिक आधार — 60
अतुल कुमार मिश्र

लोक साहित्य का वर्गीय एवं पितृसत्तात्मक चरित्र — 66
राहुल

पुस्तक समीक्षा

कृष्णा सोबती की साहित्यिक दुनिया का सामाजिक यथार्थ — 72
मनोज कुमार गुप्ता

कविता

मैं हारी नही — 76
दीपमाला त्रिपाठी

दुनिया बदल गई — 77
अनीश कुमार

पदमा बनाम लिली : प्रेम/विवाह का अंतर्द्वन्द्व

डा. अशोक नाथ त्रिपाठी

20वीं शताब्दी के महत्वपूर्ण या कहें कालजयी रचनाकार के विवेचन करते समय निराला को अग्रिम पंक्ति में शामिल किया जाता है। निराला के मूल्यांकनकर्ताओं ने निराला के कवि रूप को कथाकार रूप से ज्यादा महत्व प्रदान किया लेकिन जब निराला के कथासंसार में झांकते हैं तो इनका उपन्यासकार और कहानीकार रूप भी झलकते हुए दिखायी पड़ता है। वैसे निराला गद्य को 'जीवन–संग्राम की भाषा'[1] मानते थे और भाषा का यह रूप उनके गद्य और पद्य में सर्वत्र व्याप्त है।

निराला की चौबीस कहानियां हिंदी साहित्य जगत को प्राप्त है। 'लिली' निराला के प्रथम कहानी संग्रह और उसकी पहली कहानी पद्मा और लिली के शीर्षक से है। विवेच्य कहानी में निराला जी ने कोई पूर्व निर्धारित कथा–वस्तु का संजोयन न करते हुए सामान्य लड़के और लड़की के बीच पनपे प्रेम को लक्षणा के माध्यम से व्यक्त किया है। पूरी कहानी को पढ़ते हुए पाठक के मन में एक कौतूहल और उधेड़बुन की स्थिति रहती है और वह कहानी के अन्तिम पंक्ति से पूर्व तक यह नहीं विचार कर पाता है कि आखिर कहानी के शीर्षक का क्या आशय है। अंतिम पक्ति में ही निराला ने पद्मा और लिली का जो खेल तैयार किया है वह उनका भाषा खेल प्रतीत होता है। उत्तर आधुनिक लेखन में भी लेखक भाषायी महल तैयार करता है जिसमें उसकी पूर्व निर्धारित सोच नहीं होती है अपितु कथा अपने आप प्रकट हो जाती है उसी प्रकार की एक महत्व पूर्ण कहानी है 'लिली' जिसका प्रकाशन सन 1930 में सुधा मासिक में हुआ था। इस संग्रह की भूमिका में निराला स्वयं कहते है कि– 'यह कथानक–साहित्य में मेरा पहला प्रयास है। मुझसे पहले वाले हिंदी के सुप्रसिद्ध कहानी लेखक इस कला को किस दूर उत्कर्ष तक पहुँचा चुके हैं, मैं पूरे मनोयोग से समझने का प्रयत्न करके भी नहीं समझ सका'।[2] निराला के लेखन की विशेषता यह है कि वह प्रचलित विषय को निराले अंदाज में प्रस्तुत करते हुए विमर्श की संभावना के साथ उसे रोचक बनाते हैं। लेकिन इस रोचकता में निराला का सजग साहित्यकार अपने समाज और परिवेश की परिस्थिति से पूरी तरह वाकिफ भी रहता है। निराला की कहानियों से गुजरते हुए यह लगता है कि इनकी कहानियों में

स्वानुभूति का तत्व जितना अधिक है उतना कम कहानीकारों में मिलता है संभवता यही कारण है कि उनकी कहानियों में निराला का निरालापन साफ झलकता है।[3]

कहानी का प्रारम्भ नायिका के रूप चित्रण से होता है–'पद्मा के मुख चंद्र पर षोडश कला की शुभ्र चन्द्रिका अम्लान खिल रही है। एकान्त कुंज की कली सी प्रणय के वासन्ती मलय स्पर्श से हिल उठती, विकास के लिए व्याकुल हो रही है'[4]

आगे उसके पठन–पाठन का चित्रण दीख पड़ता है। जिसमें उसके पिताजी उसके प्रतिभा की प्रशंसा सुनकर उज्ज्वल भविष्य की कामना करते दिखाई पड़ते हैं–

'मैट्रिक परीक्षा में पद्मा का सूबे में पहला स्थान आया था।' पद्मा को काशी विश्वविद्यालय में पढ़ने के कारण वह सब गुण भी दिखायी पड़ने लगे जो उस समय की छात्राओं में आम तौर पर दिखाई पड़ता था। इस स्थिति को उसकी माता जी बर्दाश्त न कर सकी है–कहती हैं 'सिर ढक लिया करो, तुम बेहया हुई जाती हो'[5]

जब पद्मा की माता जी उसके शादी की बात करती हैं तो यह मात्र 'हूँ' कहकर उनके बात का प्रत्युत्तर देने का प्रयत्न करती है। दूसरा 'हूँ' का अर्थ– पद्मा की माता जी स्वीकारोक्ति भाव में लेती हैं। ''पद्मा'' गम्भीर होकर माता ने कहा–'जी' चलते हुए उपन्यास की एक तस्वीर देखती हुई नम्रता से बोली। मन से अपराध की छाप मिट गयी, माता की वात्सल्य सरिता में कुछ देर के लिए बाढ़ आ गयी, उठते उच्छ्वास से बोली–

'कानपुर में एक नामी वकील महेश प्रसाद त्रिपाठी हैं।' 'हूँ'..........उनका लड़का आगरा युनिवर्सिटी से एम.ए. में इस साल फर्स्ट क्लास पास किया है। 'हूँ' पद्मा ने सिर उठाया तेरे पिता जी को मैंने भेजा था, वह परसों देखकर लौटे हैं कहते थे 'लड़का हीरे का टुकड़ा है, गुलाब का फूल है, बात चीत दस हजार में पक्की हो गयी है,' 'हूँ' उन सारे वाक्यों को सुनकर पद्मा मात्र एक ही शब्द उच्चरित करती है वह है 'हूँ'।[6] ततक्षण जब राजेन्द्र की गाड़ी रुकती है तो –

'मोटर की आवाज पा पद्मा उठकर छत से नीचे देखने लगी। हर्ष से हृदय में तंरगे उठने लगी'[7]

लेकिन इस प्रक्रिया को उसके माता जी ने एक अलग ढंग से समझा, पद्मा की स्थिति को देखकर उसके माता जी को यह आभास हुआ कि शायद शादी की बात सुनकर ही इतना प्रसन्न हो रही है लेकिन कहानी के पाठ से इसके प्रसन्न होने का आशय कुछ और ध्वनित हो रहा है।

इस चर्चा के उपरान्त कहानी के कथा वस्तु में एकाएक बदलाव आता है जब राजेन्द्र की गाड़ी रूकती है यहाँ पर एक बात यह है कि उसकी माता जी जब उसके लिए शादी की बात करती हैं तो ठीक उसी समय राजेन्द्र (नायक) प्रकट होता न इसके पहले न इसके बाद। इससे एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि लेखक अपनी कथा पर शीघ्र पहुँचना चाहता है। वह अपनी विचार की योजना नहीं बनाता क्योंकि विस्तार की योजना से एक उबन की स्थिति बन जाती है और यह उबन

कहानी में नीरसता प्रदान करते हैं। जब इस प्रकार का कथा विधान पाठक में एक रोचकता लाती है पाठक को भी यह लगता है कि अब मूलकथा की ओर कहानी बढ़ रही है।

उसके अन्दर की खुशी इस बात को व्यंजित करती है जिसे वह चाहती थी वह इच्छित व्यक्ति उस तक पहुँच गया। यद्यपि कि पद्मा और राजेन जिसका असली नाम राजेन्द्र है में सम्वाद की स्थिति अत्यल्प दिखाई पड़ती है।

'आइये राजेन बाबू कुशल तो है?'

'राजेन, तुम उदास हो! तुम्हारा विवाह हो रहा है?' राजेन्द्र ने पूछा।

पद्मा उठकर खड़ी हो गयी। बढ़कर राजेन्द्र का हाथ पकड़कर बोली –

'राजेन तुम्हें मुझ पर विश्वास नही जो प्रतिज्ञा मैंने की है, हिमालय की तरह उस पर अटल रहूँगी'[8]

उसकी माता जी और राजेन्द्र से उसके आगे के पढ़ाई के बारे में बात–चीत होती है। विवाह की बात पर उसने अपनी अनभिज्ञता को प्रदर्शित किया। पद्मा की माता जी के इस प्रश्न पर कि–

'तुम्हारा विवाह कब करेंगे तुम्हारे पिता जी जानते हो?' राजेन्द्र द्वारा 'जी नहीं' का प्रतिउत्तर एक ऐसे पारिवारिक स्थिति को दर्शा रहा है। जिसमें अभी भी अपने माता–पिता की इच्छा शक्ति की महत्ता विद्यमान है। अन्य बातों के दौरान यह पता चला कि वह विलायत जा रहा है बैरिस्टर बनने। उसी दौरान पद्मा पुनः व्यंगात्मक लहजे में हँसकर बोली– 'तुम साहब बनकर विलायत से आना और साथ में एक मेम भी लाना, मैं उसकी शुद्धि कर लूँगी।'[9] इस वाक्यांश से भी यह ध्वनित हो रहा है कि वहाँ पर शुद्धता और अशुद्धता की स्थिति उसके मन में भी व्याप्त है लेकिन अपने शुद्धता की परवाह नहीं है।

पद्मा के पिता जी उसके शादी की बात करते हैं। तो पद्मा उसे टालने का प्रयास करती है। 'मैं निश्चय कर चुका हूँ जबान भी दे चुका हूँ अबके तुम्हारी शादी कर दूँगा। पण्डित रामेश्वर जी ने कन्या से कहा। 'लेकिन मैंने भी निश्चय कर लिया है, डिग्री प्राप्त करने से पहले विवाह न करूँगी। सिर झुका कर पद्मा ने जबाब दिया।'[10]

पण्डित जी जिस समय राजेन्द्र अपने घर आया था उसी क्षण यह जानकारी लेने के उद्देश्य से सीढ़ी पर खड़े हो गये थे और पद्मा तथा राजेन्द्र की वार्तालाप को सुन लिए थे। तुम हिमालय की तरह अटल हो मैं भी वर्तमान की तरह सत्य और दृढ़। रामेश्वर जी ने कहा तुम्हें इसलिए मैंने नहीं पढ़ाया कि तुम कुल कलंक बनो। कहने का आशय यह है कि शुक्ल जी उसके इस गुण को पढ़ाई से जोड़ रहे हैं।

पद्मा ब्राह्मण कुल की कन्या है जिसके पिता रामेश्वर जी शुक्ल एक मजिस्ट्रेट है यह भी पूर्ण नहीं बल्कि आरनेरी। रामेश्वर जी शुक्ल ने अपने मरने के पूर्व अपनी लड़की को यह निर्देश दिया था कि वह किसी उच्च जाति के लड़के से शादी न करे।

'चुप रहो तुम्हें नहीं मालूम? तुम ब्राह्मण–कुल की कन्या हो, वह क्षत्रिय घराने का लड़का है–ऐसा विवाह नही हो सकता।'[11]

लेकिन पद्मा ने भी अपने वाक् चतुराई का भरपूर प्रयोग किया। उसने अपने ढंग से उसे व्याख्यापित करने का प्रयास किया। अपने पिता जी के द्वारा राजेन्द्र को खूब बुरा भला सुनने के बाद उसने कहा–

'आप गलती कर रहे हैं, आप मेरा मतलब नहीं समझे, मैं भी बिना पूछे हुए बतलाकर कमजोर नहीं बनना चाहती', इस बात से रामेश्वर जी भ्रमित हो गये। इस पर पद्मा की माता जी ने पूँछा 'क्या अर्थ है मुझे बता।'

'मतलब यह, राजेन को संदेह हुआ था, मैं विवाह कर लूंगी– यह जो पिता जी पक्का कर आए हैं, इसके लिए मैंने कहा मैं हिमायल की तरह अटल हूँ न कि यह कि मैं राजेन्द्र के साथ विवाह करूँगी। यह लोग कह चुके हैं कि पढ़ाई के बाद दूसरी चिन्ता करेंगे।'

पद्मा क्षत्रिय कुल के एक लड़के के साथ प्रेम करती है। लेकिन प्रेम और विवाह को वह अलग समझती है। पद्मा उसी तरह खड़ी सीधे ताकती रही।

'तू राजन का प्यार नहीं करती?' आँख उठाकर रामेश्वर जी ने पूछा।

'प्यार? करती हूँ।' करती हूँ? करती 'हूँ? हाँ करती हूँ' बस और क्या?'[12]

पद्मा की सजल आँखें भौंहों से सट गयीं, 'विवाह और प्यार एक बात है? विवाह करने से होता है, प्यार आप होता है,। कोई किसी को प्यार करता है, तो वह उससे विवाह भी करता है? पिता जी जज साहब को प्यार करते हैं?' तो क्या उन्होने विवाह भी कर लिया है?'[13]

पद्मा की तबियत खराब होने पर वह वह जज साहब को बुलाने के लिए भेजते हैं। दवा आदि देने के बाद जज साहब अवश्य रामेश्वर जी से कहते हैं–'आप घबराइए मत, आप पर समाज का भूतसवार है।'[14]

वह उस रूढ़ि रूपी भूत को उतारने के लिए नहीं तैयार हैं। जज का लड़का राजेन्द्र जिससे पद्मा प्यार करती है वह विदेश जाता है बैरिस्टर बनने और वापस आकर वह देश सेवा का व्रत धारण कर लिया है।

उधर यह पद्मा यह सोच कर कि मात्र जाति के विचार ने पिता जी को इतना दुर्बल बना दिया वह उस दुर्बलता को समाप्त करने के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करती है। पढ़ने में वह रूप राशि युक्त पद्मा इतनी होनहार है कि अपने सूबे में प्रथम स्थान प्राप्त करती है। उसके शिक्षित होने का मात्र एक उद्देश्य यह है कि उस समाज से वह अपना प्रतिशोध कर सके। यहाँ पर एक बात जो सामने आती है वह यह कि वह दोनो प्रेमी आजन्म अविवाहित रहने का व्रत धारण कर लेते हैं। उन लोगों में प्रेम की भावना तो अभी भी विद्यमान है लेकिन अपने परम्परा की मर्यादा का परित्याग वह नहीं करना चाहते जैसा कि उस समय के प्रचलित समाज में स्थिति बन रही है कहीं न कहीं अपनी परम्पराओं से सामंजस्य की प्रवृत्ति उस नायक नायिका में दिखाई पड़ती है।

पद्मा यह सोच कर शादी से इनकार करके पढ़ाई करने लगती है कि उसे समाज द्वारा निर्मित परिधि को तोड़कर उसका विस्तार करना है यद्यपि उसके मन में पूर्ण प्रतिज्ञा थी कि वह राजेन्द्र से शादी करेगी। लेकिन साथ ही साथ उसे ऐसा कोई कार्य नही करना था जिससे उसकी मान–मर्यादा प्रभावित हो और इसका परिणाम यह रहा कि वह दोनों शादी न करने का आजीवन व्रत ले लेते हैं। कुछ समय बाद राजेन्द्र विदेश से लौट कर आता है। लेकिन उसे बैरिस्टरी रास नहीं आयी और वह देश सेवा में जुट गया। एक दिन उसकी मुलाकात पद्मा से हुई। दोनों के मुलाकात मे पद्मा ने प्रश्न किया–

'मैं भी लड़कियाँ पढ़ाती हूँ–तुमने तो विवाह कर लिया होगा'। 'हाँ, किया तो है' राजेन्द्र ने हँसकर उत्तर दिया।[15]

पद्मा को इसका बहुत आघात लगा लेकिन अपने अन्दर उस आघात को रोककर कृत्रिम हँसी में पुनः प्रश्न किया–'किसके साथ किया' 'लिली के साथ'। उसी तरह राजेन्द्र हँस कर बोला।

इस शब्द का अर्थ पद्मा नही समझ सकी और शायद पाठक भी नहीं समझ सकते यदि इसके बाद की बात न होती। यह शब्द सुनते ही पद्मा स्वर में काँप गयी बाद में इस स्थिति को देखकर राजेन्द्र ने तो कहा–'तुम्ही ने तो कहा था–विलायत जाना और मेम लाना' पद्मा की आँखे भर आयीं। हँसकर राजेन्द्र ने कहा 'यही तुम अंग्रेजी की एम.ए. हो? लिली के मानी?'[16] यह संवाद कई प्रकार की व्याख्या की मांग करता है समसल क्या राजेंद्र की शादी हो गई अथवा राजेंद्र ने शादी नहीं की। बलदेव प्रसाद मलहोत्रा का यह मानना है कि– 'प्रस्तुत कहानी में परिवारिक जीवन के कठोर आघात को! प्रस्तुत करते हुए पद्मा को आजीवन अधखिली कली के रूप में उपस्थित किया गया है।'[17] रामविलास शर्मा निराला के कथाकार रूप को एक अलग तरीके से देखते हैं उनका मानना है कि–' निराला ने स्त्रियों के दुखी जीवन को लेकर अनेक कहानियां लिखीं। जाति–प्रथा, ऊँच–नींच का भेदभाव ऊँच–नीच का भेदभाव, विधवाओं के प्रति कटु व्यवहार, पुरुषों का अंहकार भारतीय परिवार में घुटती नारी इस सब का चित्रण निराला की कहानियों में है'।[18]

इस कहानी में दोनों के आस्था की दृढ़ता विद्यमान है लिली के पूर्व वाक्य 'विवाह और प्यार एक बात है, विवाह करने से होता है और प्यार अपने आप हो जाता है' यानी कि जो निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है– प्यार, वह अभी भी उस नायक और नायिका में विद्यमान है जब कि जो समाज द्वारा निर्धारित मानदण्ड है उसकी पूर्ति नहीं भी हुई तो भी जीवन संचालित हो सकता है।

कहानी में लेखक का यह आग्रह कही नहीं दिखता है कि पद्मा ने यह अनुचित कार्य किया, न ही इस बात की तरफदारी भी नही है कि उसने उचित कार्य–किया। इसमें मात्र एक स्त्री–पुरुष के मानसिक स्थिति को दर्शाया गया है। लिली कहानी में पद्मा और लिली के प्रेम प्रणय की स्थिति को निराला ने अदभुत ढंग

से प्रस्तुत किया है लेकिन उसमें वे स्वयं किसी अन्तिम निष्कर्ष पर न पहुँचकर उसे पाठकों के लिए छोड़ देते हैं कि वह अपने ढ़ग से उसे व्याख्यायित कर सकें।

संदर्भ :

1 शाह, रमेश चन्द्र सं. निराला संचयिता की भूमिका से नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन

2 निराला,सूर्यकान्त त्रिपाटी, (1978) लिली की भूमिका से नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन,

3 चौहान, रामगोपाल सिंह, (1998) कहानी साहित्य, इंद्रनाथ मदान (सं.) निराला, इलाहाबाद, लोक भारती, प्रकाशन पृष्ठ सं. 167

4 निराला,सूर्यकान्त त्रिपाटी, (1978) लिली, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ–13

5 वही, पृष्ठ–13

6 वही, पृष्ठ–14

7 वही, पृष्ठ–14

8 वही, पृष्ठ–15

9 वही, पृष्ठ–16

10 वही, पृष्ठ–16

11 वही, पृष्ठ–17

12 वही, पृष्ठ–18

13 वही, पृष्ठ–18

14 वही, पृष्ठ–21

15 वही, पृष्ठ–22

16 वही, पृष्ठ–22

17 मलहोत्रा, बलदेव प्रसाद (1984) इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन पृष्ठ सं.–71

18 शर्मा, राम विलास (1972) निराला की साहित्य साधना खण्ड 02 नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ–445

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,वर्धा

मानवाधिकार एवं सांस्कृतिक सापेक्षतावाद

शंभू जोशी

मानवाधिकारों को सम्पूर्ण विश्व जनमत से स्वीकृति मिल चुकी है। इस सहमति का एक लम्बा इतिहास भी रहा है। समय–समय पर ऐसे कई सिद्धांत प्रतिपादित हुए जो मानवाधिकारों के लिए एक वैचारिक आधार तैयार करते थे और कई बार ऐसे सिद्धांत भी सामने आए जिन्होंने मानवाधिकारों की सार्वभौमिकता के सामने प्रश्नचिह्न खड़े किए।

मानवाधिकारों से संबंधित बहसों के संबंध में एक बात यह कही जा सकती है कि इन बहसों में मुख्य मुद्दा मानवाधिकारों को मानना, न मानना नहीं बल्कि इसकी सार्वभौमिकता, इसमें क्या अधिकार शामिल हो, कैसे उन्हें लागू किया जाए, इत्यादि रहे हैं।

मानवाधिकारों को लेकर होने वाली अनेक बहसों में एक प्रमुख बहस सांस्कृतिक सापेक्षतावाद की रही है। सांस्कृतिक सापेक्षतावाद (Cultural Relativism) मानवाधिकारों से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत रहा है। इसने मानवाधिकारों की सार्वभौमिकता को लेकर प्रश्नचिह्न खड़ा किया। यह 20 वीं शताब्दी के पहले कुछ दशकों में फ्रांज बोआस (Franz Boas) द्वारा मानव विज्ञान अनुसंधान में स्थापित किया गया था और बाद में उनके विद्यार्थियों द्वारा लोकप्रिय किया गया था। बोआस ने पहली बार इस विचार को 1887 में व्यक्त किया 'कि ऐसा नहीं है कि सभ्यता पूर्ण हो, लेकिन ... वह सापेक्ष है, और ... हमारे विचार और अवधारणाएं केवल तब तक सच हैं जहां तक हमारी सभ्यता जाती है'। हालांकि, बोस ने शब्द को प्रचलित नहीं बनाया।(Boas,1889) ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में दर्ज शब्द का पहला उपयोग दार्शनिक और सामाजिक सिद्धांतवादी एलैन लॉक द्वारा रॉबर्ट लोवी के 'चरम सांस्कृतिक सापेक्षता' का वर्णन करने के लिए 1 9 24 में किया गया था। 1 9 42 में बोस की मृत्यु के बाद मानवविज्ञानी बाओस द्वारा विकसित किया गया यह शब्द आम हो गया।

सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के शुरूआती समर्थकों में "The American Anthropological Association" का प्रमुख स्थान रहा है –

"The American Anthological Association was one of the first exponents of this cultural relativist view. In 1947 it rejected the draft Declaration of human right s as 'a Statement of rights conceived only in terms of the values prevalent in the count of Western Europe & America."

– (www.eldis.Org/Rights/guides/relativism.htm)

सांस्कृतिक सापेक्षतावादी नृतत्वशास्त्रीय शोध अध्ययन से बहुत कुछ सामग्री ग्रहण करते है। लेवीस्त्रास एवं अन्य नृतत्वशास्त्रियों द्वारा कही गई निम्न बातें सांस्कृतिक सापेक्षतावादियों के लिए आधार वाक्य का कार्य करती है –

"All cultural have equal value".

"प्रत्येक संस्कृति को समान सम्मान मिलना चाहिए।''

सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के प्रमुख समर्थको में से एक R.E. हॉवार्ड व अन्य लोगों का तर्क है कि किसी भी संस्कृति के अपने अन्तर्निहीत मूल्य हैं, अतः प्रत्येक संस्कृति समूह को अधिकार है कि वह अपनी तरह से व्यवस्था करे। इनके अनुसार सार्वभौमिक संस्कृति जैसी कोई चीज नहीं है, कोई विश्व मानव संस्कृति नहीं है। अतएव सार्वभौम मानवाधिकार जैसा कोई विचार स्वीकार नहीं किया जा सकता है। सार्वभौमिकता संस्कृतियों के संदर्भ में लागू नहीं होती अतः सार्वभौमिक मानवाधिकार नहीं हो सकते है। हर समूह का अपना वैशिष्टय है, अतः वह दूसरों से अलग है। जब यह स्वीकार कर लिया गया है कि अन्य संस्कृतियों का भी समान महत्त्व है तो कैसे किसी सार्वभौम संस्कृति की कल्पना की जा सकती है।

सांस्कृतिक सापेक्षतावाद मानवाधिकारों के संबंध में राय देता है कि मानवाधिकार होने चाहिए मगर उनकी व्याख्या, व्यवस्था संस्कृति सापेक्ष होनी चाहिए। अगर सार्वभौमिक मानवाधिकारों (जिसे स्वीकार करने में इसे परेशानी है)और संस्कृति सापेक्ष मानवाधिकारों में कोई विरोध हो तो संस्कृति सापेक्ष मानवाधिकारों को प्राथमिकता देनी चाहिए। अतः सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के तर्को को संक्षेप में व्यक्त करने का प्रयास करें तो निम्नांकित बिन्दुओं की सहायता से व्यक्त किया जा सकता है :

1- कोई सार्वभौमिक संस्कृति नहीं है, अतएव सार्वभौमिक मानवाधिकार जैसा विचार स्वीकार नहीं।

2. हर संस्कृति का समान महत्त्व है, उसका सम्मान किया जाना चाहिए।

 ISSN 2455–4502

3. परम्परागत संस्कृतियाँ मानवाधिकारों की रक्षा में सक्षम है।

4. मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा वस्तुतः एक "यूरोकेन्द्रित" अवधारणा है। यह यूरोपीय व अमेरिकी संस्कृति को अन्य देशों पर लादने की कोशिश है।

5. स्वयं मानवाधिकारों के चार्टर में व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक समुदाय को अधिकार है कि अपनी व्यवस्थाएँ करे । उदा. राजनीतिक व्यवस्था : कहीं लोकतंत्र (अध्यक्षीय / संसदात्म क),तानाशाही पनपी इत्यादि ।

सांस्कृतिक सापेक्षतावाद को समझने व उसके तर्कों को जानने के बाद अब सार्वभौम मानवाधिकार के समर्थक अपने पक्ष में क्या तर्क प्रस्तुत करते हैं, यह जानना भी आवश्यक है। मानवाधिकार की सार्वभौमिकता को स्वीकार करने वाले समर्थकों द्वारा निम्नलिखित तर्क दिए जाते है :

1- सांस्कृतिक सापेक्षतावादियों के तर्को को स्वीकार किया जाए तो संस्कृति 'जड़' वस्तु मात्र हो जाती है। इनके लिए संस्कृति ऐसा विचार है जिसमें परिवर्तन नहीं होता है। जबकि वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। संस्कृति एक गत्यात्मक प्रक्रिया (Dynamic Process) है; इसमें निरंतर परिवर्तन होता है। संस्कृति अगर परिवर्तनशील नहीं होती तो हम आज भी आदिम युगीन व्यवस्था में रह रहे होते। अतः संस्कृति निरंतर परिवर्तनशील विचार है।

2- कुछ Expressions ऐसे अवश्य है जो सभी संस्कृतियों में पाए जाते है। उदा. जन्म, विवाह, मृत्यु, खानपान इत्यादि से जुड़े संस्कार ऐसे है जो लगभग सभी संस्कृतियों में पाए जाते हैं। अतः मानवाधिकार समर्थकों का कहना है कि सभी संस्कृतियों के बीच एक समान सूत्र (Common thread) ढूँढ़ा जा सकता है और सार्वभौमिक मानवाधिकार उसी समान सूत्र की अभिव्यक्ति को अपना आधार बनाता है।

3- सांस्कृतिक सापेक्षतावादी अपनी संस्कृति की 'जड़' धारणा में सार्वभौमिक मानवाधिकारों का विरोध कर अपने समाज में उन परम्पराओं, प्रथाओं को बनाए रखना चाहते है जो कि मानवीय शोषण दमन को जन्म देती है। ये लोग तर्क देते है कि चूंकि यह परम्परा लम्बे समय से चली आ रही है इसीलिए इसे स्वीकार करेंगे जबकि मानवाधिकार समर्थक कहते है कि किसी भी परम्परा प्रथा का लम्बे समय से चले आना उसकी वैधता की कसौटी नहीं है, उसकी जाँच इस कसौटी पर होनी चाहिए कि वह व्यक्ति के मूल अधिकारों का हनन करती है या नहीं।

उदा. सती प्रथा, दास प्रथा जैसी प्रथाएं भी लम्बे समय तक चली आई थी मगर आज प्रचलन में नहीं है क्योंकि सभी ने स्वीकार किया कि ये मानवीय गरिमा के अनुकूल नहीं है, मनुष्य के मानवाधिकार का उल्लंघन है अतएव त्याज्य है। अतः परम्परा, प्रथा

के नाम पर मनुष्य मात्र पर होने वाले किसी भी दमन, शोषण को किसी भी प्रकार से उचित नहीं ठहराया जा सकता है ।

4- मानवाधिकारों के समर्थक एक तर्क यह भी देते है कि सांस्कृतिक सापेक्षतावादी भी मानवाधिकारों को स्वीकार करते है मगर अपना विरोध इसकी सार्वभौमिकता को लेकर दर्ज कराते है। मानवाधिकारों की स्वीकृति होना ही अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।

इसी के साथ एक और तर्क सांस्कृतिक सापेक्षवादियों द्वारा यह दिया जाता है कि संस्कृतियों में ऐसी परम्पराएं, प्रथाएँ है जो मानवाधिकारों की रक्षा करने में सक्षम है। यदि इस तर्क पर गौर किया जाए तो प्रतीत होता है कि अगर परम्पराएँ, प्रथाएं मानवाधिकारों की रक्षा में सक्षम है तो इन्हें सार्वभौम मानवाधिकारों से डरने की जरूरत नहीं होनी चाहिए तब तो सार्वभौम मानवाधिकार इनके पूरक ही सिद्ध होंगे। अतः वस्तुस्थिति है कि सार्वभौम मानवाधिकार परम्प राओं, प्रथाओं के नाम पर होने वाले दमन, शोषण को समाप्त करने का आह्वान करते है इसलिए सांस्कृतिक सापेक्षतावादी इनसे भयभीत है और विरोधी है।

5- मानवाधिकारों की मूल अवधारणा में ही यह निहित है कि यह प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार है जो उससे अलग नहीं किए जा सकते है साथ ही उस व्यक्ति को यह मानवाधिकार "जाति, रंग, नस्ल, धर्म, स्थान इत्यादि की भिन्नता से परे प्राप्त हैं। अतः इस आलोक में देखा जाए तो सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के नाम पर व्यक्ति को उसके मानवाधिकारों से कैसे वंचित किया जा सकता है?

6- 'यूरोकेन्द्रितता' पर विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि कोई भी विचार किसी स्थान विशेष से उत्पन्न हुआ है तो उसका स्वीकार/अस्वीकार किया जाना चाहिए, यह उचित समझ नहीं कही जा सकती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह विचार तर्कपूर्ण,विवेकपूर्ण है या नहीं। मानवाधिकारों की संकल्पना चाहे यूरोपीय देशों व अमेरिका की उपज रही हो मगर कहीं न कहीं इसमें वह समान आधार तो है ही जिसके बल पर लगभग समस्त विश्व जनमत इन्हें स्वीकृति दे चुका है। गौरतलब बात तो यह भी है कि अगर यूरोपीय देश, अमेरिका स्वयं भी मानवाधिकार का उल्लंघन करते है तो विश्व जनमत की नाराजगी मोल लेनी पड़ती ह ।

7. सांस्कृतिक सापेक्षतावाद पर बात करते समय यह आवश्यक है कि "सांस्कृतिक अधिकारों" की भी चर्चा की जाए। सांस्कृतिक सापेक्षतावादी अपने "सांस्कृतिक अधिकारों" की दुहाई देकर अपनी परम्पराओं, प्रथाओं के अनुसार मानवाधिकारों की व्याख्या, व्यवस्था चाहते है। जबकि मानवाधिकार समर्थकों का कहना है कि सार्वभौमिक मानवाधिकार की कल्पना किसी भी व्यक्ति/समूह के "सांस्कृतिक अधिकारों'' का अतिक्रमण नहीं करती। सार्वभौम मानवाधिकार संस्कृति की विशिष्टता का सम्मान करते है, उन्हें सम्मान देते हैं। लेकिन सार्वभौमिक मानवाधिकार की धारणा

जिस एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर इशारा करती है, वह यह है कि कोई भी समूह/संस्था व्यक्ति की वैयक्तिकता को "सांस्कृतिक अधिकारों" के नाम पर दबा नहीं सकती ।

प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि वह बताए कि किस सांस्कृतिक समूह की कौन–सी बात स्वीकार करता है, कौन–सी नहीं । अतः सार्वभौम मानवाधिकारों का आशय है कि व्यक्ति के अधिकारों को स्वीकार करते हुए समूह के अधिकारों को स्वीकार करना चाहिए। दोनों में द्वन्द्व होने पर व्यक्ति के अधिकारों को प्रधानता दी जानी चाहिए। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि सांस्कृतिक सापेक्षतावाद व्यक्ति के सांस्कृतिक अधिकारों को स्वीकार न कर समूह की अस्मिता (Identity) उस पर थोपते है जो कि मानवाधिकारों की अवधारणा के विरूद्ध है।

साथ ही यह भी महत्त्वपूर्ण है कि चूंकि सभी मानवाधिकार आपस में जुड़े है अतः क्यों समूह के ऐसे किसी अधिकार को स्वीकार किया जा सकता है जो अन्य मानवाधिकारों का उल्लंघन करता हो? अतः सांस्कृतिक सापेक्षतावाद पर बात करते समय इस नजरिए से भी अवलोकन होना चाहिए कि वह अन्य मानवाधिकारों पर क्या प्रभाव डालेगा?

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मानवाधिकारों के संबंध में सांस्कृतिक सापेक्षतावाद एक महत्त्वपूर्ण बहस को जन्म देता है। इसकी (सा. सापेक्षतावाद की) भी अपनी समस्याएं है। दूसरी ओर सार्वभौमिक मानवाधिकारों के समर्थकों को यह बात स्वीकार करनी होगी कि सांस्कृतिक सापेक्षतावाद में स्वतंत्रता का पक्ष मौजूद है, वह अपनी परम्परा/व्याख्या के अनुसार मानवाधिकारों को स्वीकार करना चाहते हैं। समूह अस्मिता और निजी अस्मिता का समन्वय उन संस्कृतियों में काफी समय से मौजूद रहा है। अतएव उनके तर्कों को भी सीधे खारिज नहीं किया जा सकता है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक सापेक्षतावादियों से यह आग्रह किया जाए वे मूल मानवाधिकारों को स्वीकार कर अपने अनुसार परम्परा एवं व्याख्या में खुद परिवर्तन करें। वे अपने अनुसार मूल अधिकारों के आधार पर अपनी व्यवस्था को स्वयं बदले। ऐसा होने पर उनकी स्वतंत्रता मौजूद रह पाएगी जो मानवाधिकारों का मूल है।

संदर्भ

Franz Boas (1887). "Museums of Ethnology and their classification" *Science* 9: 589.

असिस्टेंट प्रोफेसर

दूर शिक्षा निदेशालय

जातिनिर्मूलन एवं डॉ. अंबेडकर

उमेश कुमार सिंह

विषमता दुनिया में सदैव रही है जिसके चलते समाज का एक तबका दुखःमय जीवन व्यतीत करता आ रहा है। भारत जैसे देश की स्थिति यह है कि बहुतायत जनता आज भी खुद की अज्ञानता के चलते भौतिक चकाचौंध से दूर रहकर जीवन जीने को मजबूर है। आज पंचायत से पाठशाला तक, सभा से संसद तक, जातिगत विषमता को देखा जा सकता है। जाति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1665 ई. में 'ग्रेसियस डोओरेटा' ने किया था। उन्होंने कहा था कि – "कोई अपने पिता का व्यवसाय नहीं छोड़ता।"[1] 'जाति' शब्द अँग्रेजी भाषा के 'कास्ट' का हिंदी रूपांतरण है, जिसे लैटिन भाषा के 'कास्टस' से लिया गया है। जिसका अर्थ होता है – "अभिश्रित।"[2] 'अभिश्रिती–व्यवस्था' का रूप ही जातिगत व्यवस्था है। जो भारतीय समाज की संरचना के मूल में निहित है।

भारत सामाजिक विषमता का प्रतिपादन करने वाला अनोखा देश है, जहाँ जाति प्रथा को शास्त्रीय, सामाजिक एवं राजनीतिक मान्यता दी गई हैं। मजूमदार तथा मदान के अनुसार – "जाति एक बंद वर्ग हैं।"[3] अर्थात् एक ऐसी सामाजिक संरचना जिसका निर्धारण जन्म के समय ही हो जाता है। मनुष्य जिस परिवार में जन्म लेता है, वह ता उम्र उसी जाति का हो के रह जाता है।

कास्ट (Cast) शब्द का विश्लेषण इसकी विशेषता द्वारा स्पष्टता किया जा सकता है।[4] .

C = CLOSED	**बंद वर्ग**
A=ASCRIBSD	**प्रदत्त स्थिति**
S= SOCIAL LAW	**सामाजिक कानून**
T= TIE	**संयुक्त**
E= ENDOGAMY	**अंतर्विवाह**

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि जाति का निर्धारण जन्म से होता है। संबंध घनिष्ठ होते हैं तथा अंतर्विवाह की प्रथा होती है। सामाजिक कानून नियंत्रण का कार्य करते हैं और प्रत्येक जाति के लोगों को अपने व्यवसाय को करने की अनुमति देते हैं। जाति व्यवस्था को अंधविश्वास, परंपरा एवं स्वार्थो के चलते स्वीकार किया गया है। जाति व्यवस्था ने जहाँ एक ओर सुविधाओं का कम प्रबंध किया है, वही अनेक बुराई जैसे – भेदभाव, संघर्ष, अज्ञानता के साथ सामाजिक, आर्थिक, वैयक्तिक एवं

राजनैतिक क्षेत्र को हानि पहुँचाई है। यद्यपि, इन बुराइयों के कारण ही जाति व्यवस्था टूट रही है तथा नए आयामों का विकास व्यवसाय के रूप में, खानपान में, ऊँच–नीच में, विवाह संबंधो में, व्यवहार में, स्त्रियों की स्थिति आदि में परिवर्तन होता दिखाई दे रहा है।

जाति प्रथा की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई? इसकी जानकारी हम वैदिक ग्रंथों में देख सकते हैं। जाति प्रथा की उत्पत्ति का वैदिक–काल के 'वर्ण–व्यवस्था' से हुई है। उस समय 'कर्म और श्रम' के आधार पर संपूर्ण समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों मे बाँटा गया था। किंतु सामाजिक परिवर्तन के चलते यह व्यवस्था जन्म से जोड़ दी गई और जाति व्यवस्था का उदय हुआ। इस प्रकार वर्ण–व्यवस्था की देन जातिभेद है। जातिभेद ने अस्पृश्यता को जन्म दिया। अतः जातिभेद एवं अस्पृश्यता का मूल कारण वर्ण–व्यवस्था ही है। भारत में अस्पृश्यता के आरंभ से लेकर 1200 ई. तक के इतिहास का विवेकानंद झा ने एक ज्ञानवर्धक अध्ययन किया है। वे अस्पृश्य समूहों के उद्‌भव और प्रसार के विषय में चार प्रमुख बातें बताते हैं – "ऋग्वेद में ऐसे किसी भी जन–समूह की जानकारी नहीं मिलती जिसके साथ संपर्क का तनिक भी निषेध किया गया हो। उत्तर–वैदिक काल भी अस्पृश्यता के चलन का कोई संकेत नहीं देता, यद्यपि उनमें 'चांडालों' तथा 'पुल्कसों' के जनजातीय समूहों का उल्लेख काफी तिरस्कार और घृणा के भाव से किया गया है। 200 ई. तक के काल को परिधि में लेने वाले, दूसरे चरण में चांडाल तथा पुल्कस जैसे कुछ जनजातीय समूह स्पष्ट रूप में सामने आते हैं। तीसरे चरण में, जो दूसरे के ही सातत्य हैं, कुछ और समूह अस्पृश्य बन जाते हैं, लेकिन पराकाष्ठा 600 से 1200 ई. तक जाने वाले चौथे चरण में होती है, जब पेशों के आधार पर बने कई समूहों को, जैसे चर्मकारों और रजकों को अस्पृश्य वर्ग में डाल दिया गया और कई नए प्रजातिगत समुदायों को भी अछूतों की सूची में शामिल कर लिया गया।"[5] विवेकानंद ने भी अस्पृश्यता का उदय, उत्तर–वैदिक काल की देन ही स्वीकार किया है। समय के साथ परिवर्तन हुआ और जाति–व्यवस्था ने समाज के प्रत्येक वर्ण के लोगों का व्यवसाय निश्चित किया। समाज द्वारा निम्न समझे जाने वाले कार्य को जिस वर्ण के लोगों ने अपनाया, उन्हें अस्पृश्य घोषित कर दिया गया।

समाज के शूद्रों से चाहे जो काम करवाने का पुरोहितों, क्षत्रियों एवं वैश्यों को अधिकार था। शूद्रों एवं स्त्रियों को पशु के पंक्ति में रखा गया। जैसे कि तुलसी दास ने भी लिखा है –

1. "ढ़ोल गंवार शूद्र पशु नारी, सदा ताड़ना के अधिकारी।"[6]

2. "पूजिय विप्र शील गुण हीना, नहीं शूद्र गुण ज्ञान प्रवीना।"[7]

इत्यादि पंक्तियों से पौराणिक ग्रंथ भरे पड़े हैं। इस अनुलोम–प्रतिलोम 'वर्ण–भेद' और 'जात–भेद' ने हिंदू समाज को पारस्परिक कलह, घृणा और भिन्नता के भावों से ऐसा जर्जर बना रखा है कि हिंदू एक जाति या एक राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं हो सकते। भारत में जब मुसलमान एवं अँग्रेज आए तो सामाजिक विषमता के कारण ही हिंदुस्तानियों का संगठन कमजोर हो गया और अल्पसंख्यक विदेशियों के बहुसंख्यक हिंदुओं को हिंदुस्तान में पराजित किया। इसका प्रमुख कारण जातिभेद में ऊँच–नीच का होना था। जो पाकिस्तान को नया राष्ट्र बनाने में भी सहयोगी था। इसे कहते हैं कि– 'इस घर को आग लगी, घर के ही चिराग से।'

बेशक इस क्रूर एवं अमानवीय व्यवस्था के खिलाफ समय–समय पर विद्रोह भी हुए किंतु जाति प्रथा का जहर कम नहीं हुआ। भारत में जाति व्यवस्था जितनी जटिल, सुव्यस्थित और रूढ़ है उसकी मिसाल विश्व के किसी भी भाग में कहीं नहीं मिलेगी। अतः यह जाति रूपी जहर भारत की प्रगति का बहुत बड़ा रोड़ा बना है। यह बात सच है कि जिस समाज में आंतरिक गतिशीलता न हो तथा मनुष्य की नियति उसके जन्म के समय ही तय हो जाती है, वह न तो बहुत चुनौतियों का मुकाबला कर सकता है और न आंतिरिक बाधाओं का। ऐसी स्थित में प्रश्न यह उठता है कि जाति को या उसके जहर को कैसे खत्म किया जाए? क्या वैश्विक विकास के साथ 'जाति–भेद' स्वयं कमजोर पड़ जाएगा? क्या 'जाति–भेद' को खत्म करने के लिए कुछ विशेष उपाय करने पड़ेगें? आखिर क्या वजह है कि सामाजिक एकता की बात करने वाले ही, सामाजिक एकता के लिए सबसे कम प्रयत्नशील है? ऐसे ही प्रश्न 'जाति–भेद' से संबंधित उठ रहे हैं किंतु इन प्रश्नों का कोई भी व्यक्ति उत्तर देने को तैयार नहीं है।

भारतीय समाज सुधारकों ने यद्यपि 'जाति–भेद' को खत्म करने का प्रयत्न किया जिनमें डॉ. अंबेडकर का महत्वपूर्ण स्थान है। अंबेडकर खुद एक दलित परिवार से थे और उन्होंने 'जाति–भेद' से उत्पन्न होने वाली समस्याओं को झेला था। इसलिए समाज की भयंकर बीमारी के विषय पर गहराई से सोचने का काम भी उन्होंने किया। अमेरिका के कोलंबिया विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान के ऊपर हुई परिचर्चा में वहाँ के एक प्रमुख विद्वान डॉ. गोल्डेन वेजर के सानिध्य में एक पर्चा तैयार किया और उसे बहस के लिए प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था 'भारत में जाति व्यवस्था।' उन्होंने कहा कि – "जाति व्यवस्था के बहाने भारत में अनंतकाल से अनाचार का दौर चल रहा है। यदि हिंदू भारत छोड़कर पृथ्वी के दूसरे हिस्से में जाएँ तो जाति भी विश्व व्यवस्था की रूप ले लेगी।"[8] अंबेडकर आदि काल से चली आ रही जाति व्यवस्था, जो आज विश्व व्यवस्था का रूप ले चुका है, के सख्त विरोधी थे।

'हिंदू एंड वेस्ट ऑफ पब्लिक कॉसेस' में अंबेडकर कहते हैं कि – "दूसरे मुल्कों में जाति की व्यवस्था आर्थिक व सामाजिक कसौटी पर टिकी हुई है। किंतु भारत में

गुलामी और धार्मिक आधार मिला हुआ है और यह छूआछूत के रूप में धार्मिक स्वीकृत प्राप्त है। इसलिए गुलामी खत्म भी हो जाए तो छूआछूत खत्म नहीं होगी। छूआछुत तभी खत्म होगा जब संपूर्ण 'हिंदू–व्यवस्था' खासतौर से 'जाति– व्यवस्था' को ध्वस्त कर दिया जाए।"[9] दिसंबर 1935 में लौहार में 'जाति–पाति तोड़क मंडल' का सम्मेलन हुआ था जिसकी अध्यक्षता डॉ. अंबेडकर द्वारा की गई। उन्होंने अपने संबोधन में कहा कि – "शास्त्रों ने ब्राह्मणों को सभी वर्गों का गुरू घोषित किया है और ब्राह्मण गुरू संत ने ही शिवाजी को हिंदू राज स्थापित करने की प्रेरणा दी। वह संत अपने दसबोध ग्रंथ में कहता है कि किसी अंत्यज को चाहे वह जितना बड़ा पंडित क्यों न हो, हम अपना गुरू कैसे मान सकते हैं?"[10] अंबेडकर शास्त्र संबद्ध लादी गई 'वर्ण–व्यवस्था' एवं 'जाति–व्यवस्था' को पूर्णता समाप्त करने के पक्षधर थे। इसके लिए उन्होंने 'शिक्षा और अंतर्जातीय' विवाह को महत्वपूर्ण साधन के रूप में सुझाया। वे कहते हैं कि – "शिक्षा के द्वारा ही सामाजिक परिवर्तन होता है।"[11] अर्थात् शिक्षा को सामाजिक समरसता का एक महत्वपूर्ण माध्यम मानते हैं। 'जाति–भेद' खत्म कैसे हो? डॉ. अंबेडकर इस प्रश्न का उत्तर सहजता से प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि – "मेरे विचार मे जाति भेद मिटाने का वास्तविक उपाय अंतर्जातीय एवं अंतवर्गीय विवाह ही हो सकता है"।[12] अर्थात् केवल रक्त–मिश्रण ही स्वजन, आत्मीय और मित्र होने का भाव पैदा कर सकता है। जब तक ये भाव प्रधान नहीं होता, तब तक 'जाति–भेद' द्वारा उत्पन्न मित्रता का दुर्भाव दूर नहीं होगा। 'जाति–भेद' को खत्म कर सामाजिक जीवन को तेजस्वी बनाने का एक यही सही उपाय है। हिंदू इसलिए 'जाति–भेद' तोड़ना नहीं चाहते क्योंकि वे लोग इसे अपना धर्म मान बैठे हैं और जिसको प्राणों से ज्यादा चाहते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि 'जाति–भेद' क्यों नहीं खत्म हो सकता? यह प्रश्न काफी सोचने का विषय है। इस संदर्भ में अनेकों विद्वानों ने अपना मत दिया है। पुरोहित–वर्ग (धर्म–गुरू) जो कि समाज का एक बौद्धिक वर्ग माना जाता है जिसे 'जाति–भेद' खत्म करने के लिए आगे आना चाहिए ताकि 'जाति–निर्मूलन' एक आंदोलन का रूप ले सके। इस विषय में डॉ. अंबेडकर कहते हैं कि – "प्रत्येक देश में बौद्धिक श्रेणी ही नेतृत्व करती है, चाहे वह शासक न भी हो। साधारण जनता बुद्धिजीवी लोगों के पीछे चलती और उनका अनुकरण करती है। भारत में ब्राह्मण–जाति ही यहाँ की बौद्धिक श्रेणी है। हिंदू शास्त्रों में ब्राह्मण सब वर्णों का गुरू हैं। अतः इस वर्ण के लोगों को जाति–भेद खत्म करने के कदम उठाने पड़ेगें।"[13] अर्थात् पुरोहित वर्ग के लोगों को जातिनिर्मूलन में सामने आना चाहिए। क्योंकि यह वर्ग समाज का नेतृत्व करता है। इनका सकारात्मक नेतृत्व ही समाज को जाति–व्यवस्था से छुटकारा दिला सकता है।

निष्कर्ष

किसी परंपरा को बनने में सदियां लगती है, लेकिन उसको खत्म करने में उससे अधिक साहस एवं समय की आवश्यकता होती है। 'जाति–भेद' के जहर को तभी से चुनौती मिलती आई है, जब से उसने अपने अस्तित्व को प्राप्त किया है। डॉ. अंबेडकर ने अपना संपूर्ण जीवन जातिनिर्मूलन के विनाश में न्यौछावर कर दिया। फिर भी जाति का जहर आज भी समाज में अस्तित्व बनाए हुए है। आज भी भारत में 'जाति–भेद' ने अपनी पकड़ बनाए रखी है। वास्तव में जातिभेद केवल लिखित अभिलेखों से खत्म नहीं हो सकता। इसके लिए संपूर्ण वर्ण के लोगों को एक साथ मिलकर प्रयास करना चाहिए। शिक्षित वर्ग के लोगों की खास जिम्मेदारी बनती है कि कम शिक्षित लोगों के मन से छुआछूत/जाति–भेद जैसे अंधविश्वास को दूर करे। इसके लिए देश से अशिक्षा को खत्म करना होगा। ताकि लोग अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो सके। ब्राम्हण एवं दलित मठाधीशों को भी चाहर दीवारों से निकलकर 'जाति–भेद' के जहर को खत्म करने में सहयोग करना चाहिए। ताकि लोग न्याय, बंधुत्व, समता और स्वतंत्रता के साथ जीवन व्यतीत कर सके।

संदर्भ–सूची

1. हटन, जे. एच. (1983). (अनु. मंगलनाथ सिंह). *भारत में जाति प्रथा, स्वरूप, कर्म और उत्तपति,* दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास पृष्ठ संख्या–46.
2. मिश्र, प्रयागदीन व मिश्रा, बीना. (2003). *व्यक्ति और समाज.* लखनऊः न्यू रायल बुक कंपनी. पृष्ठ संख्या–55.
3. वहीं, पृष्ठ संख्या–95.
4. वही, पृष्ठ संख्या–95.
5. झा, विवेकानंद. (1993).(सं–जनवरी–दिसंबर). *इतिहास* : अंक दो. नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या–39.
6. दास, तुलसी. (1999). *रामचरितमानस का उपखंड–सुंदरकांड,* गोरखपुरः गीता प्रेस, पृष्ठ संख्या–396.
7. वही, अरण्यकांड. पृष्ठ संख्या–342.
8. किशोर, राज. (2004). *आज का प्रश्न : जाति का जहर,* दिल्लीः वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या–5.
9. राकेश, मोहन. (2011). *डॉ. भीमराव अंबेडकर व्यक्तित्व के कुछ पहलु,* इलाहाबादः लोकभरती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या–105.
10. मून, वसंत. (अनु.) (2013). *बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर संपूर्ण बाङ्ग्मय वाल्यूम–1,* नई दिल्लीः डॉ. अंबेडकर प्रतिष्ठान. पृष्ठ संख्या–102.
11. सिंह, मोहन. (2011). *डॉ. भीमराव अंबेडकर व्यक्तित्व के कुछ पहलु,* नई दिल्लीः डॉ. अंबेडकर प्रतिष्ठान. पृष्ठ संख्या–105.

12. मून, वसंत. (अनु.) (2013). *बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर संपूर्ण बाङ्ग्मय वाल्यूम–1.* पृष्ठ संख्या–89.
13. मून, वंशत.(अनु. प्रशांत पांडे). (2011). *डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर* नई दिल्ली : नेशनल ट्रस्ट, इंडिया, पृष्ठ संख्या–205–206.

समाज की मान्यताओं को तोड़ती मित्रो मरजानी

आलोक कुमार शुक्ल

हिन्दी कहानी में सन साठ का दौर काफी उथल–पुथल भरा रहा है, वजह साफ है कि नेहरू द्वारा दिखाये गये स्वप्न और भारत चीन युद्ध ने भारत को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक रूप से काफी कमजोर किया। नेहरू की मृत्यु ने इस हवा को और भी गति प्रदान की। स्वाभाविक है कि हिंदी कथा साहित्य भी इस परिस्थिति से अछूता नहीं रहा है। समाज मे उभरे मोहभंग, सेक्स जनित कुंठा, पारिवारिक विघटन, मूल्यों में बदलाव इत्यादि कथा साहित्य में बखूबी चित्रित हुए। आज का व्यक्ति बुभुक्षा से आक्रांत है। एक ओर पेट की भूख, दूसरी ओर यौन की भूख, तीसरी ओर अस्तित्व की भूख और चौथी ओर जिजीविषा की भूख। उसकी यौन–वृति अन्य बुभुक्षाओं पर हावी हो गयी और वह इसी बुभुक्षा की पूर्ति में जुट जाना चाहता है जिसे इस दौर की कहानियों में प्रमुख रूप से देखा जा सकता है।

हिंदी कथा जगत में यूँ तो बहुत सी कथा लेखिकाएं अपनी विशिष्ट शैली एवं अंदाज–ए–बयां के कारण पाठक वर्ग के मन–मष्तिष्क पर अपनी छाप छोड़ती हैं। किंतु अगर उनमें से किसी एक कथा लेखिका का जिक्र करना हो तो बरबस ध्यान कृ ष्णा सोबती पर जा कर रुकता है, वह इसलिए कि कृष्णा सोबती ने अपने समकालीन कथा लेखिकाओं से एक क़दम आगे बढ़कर स्त्री की दयनीय स्थिति पर अपनी लेखनी चलायी। न केवल लिखा बल्कि अपने क्रांतिकारी विचारों से भारतीय दकियानूसी समाज को स्त्री के संबंध में फिर से सोचने के लिए विवश भी किया। शायद इसी कारण से उन्हें समाज के विरोधों का सामना भी करना पड़ा। बावजूद इसके उनकी कलम कभी रुकी या झुकी नहीं और न ही उन्होंने कभी प्रतिकूल परिस्थितों में अपनी लेखनी से किसी प्रकार का समझौता किया। बिना किसी लोभ–लालच के वे स्त्री समस्याओं पर ईमानदारी से लिखती रहीं।

कृष्णा सोबती किसी विशेष विचार या सिद्धांत से कभी बंध कर नहीं चलीं बल्कि उन्होंने अपनी लेखनी पर विश्वास किया और नित नये प्रतिमान गढ़ती गयी। उन्होंने अपने शिल्प और भाषा के माध्यम से ऐसे पात्रों को गढ़ा जो सामान्य जन–जीवन में बराबर दखलअंदाजी करते रहते हैं। क्योंकि उनके पास अपनी अस्मिता की आवाज है, जो आज के इस दौर के लिये सबसे जरुरी चीज है। ए

लड़की, डार से विछुड़ी, मित्रो मरजानी, यारों के यार, तिन पहाड़, बादलों के घेरे, सूरजमुखी अँधेरे में, जिन्दगीनामा, दिलो दानिश आदि ने एक नये बौद्धिक विमर्श को जन्म दिया और समय के साथ हर बार उनके द्वारा रचित पात्रों पर चर्चा करना जरुरी समझा गया।

इसी परिप्रेक्ष्य में अगर हम बात करें तो कृष्णा सोबती द्वारा सन 1967में लिखित 'मित्रो मरजानी' अपने कथ्य एवं शिल्प में सशक्त और बेजोड़ दीर्घ कहानी है। यह कहानी पंजाबी पृष्ठभूमि पर लिखी एक संयुक्त मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है जिसके केंद्र में 'मित्रों' जैसी सशक्त महिला पात्र है। उसके चरित्र की खूबी है कि वह बेबाक, बेधड़क है। वह किसी से डरती–दबती नहीं बल्कि अपनी बात मुखर होकर कहती है। उसे किसी से स्नेह की जरुरत नहीं है। उसके मन में जो बातें हैं वह सब के सामने कहने से नहीं हिचकती। पीठ पीछे कहने की उसे आदत नहीं। मित्रो एक तेज़–तर्रार औरत है। वह 'जग की रीति ठेंगे' पर रखने वाली औरत है। वह अपने देह की भूख मिटाने के लिये किसी भी हद तक जा सकती है। उसके लिये नैतिकता कोई मायने नहीं रखती, वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत है।इस तरह का चरित्र हमारे भारतीय समाज में पहले से ही विद्यमान था लेकिन उसे साहित्य के केंद्र में लाने की, जिस साहस और दृढ़इच्छा शक्ति की जरुरत थी वह शायद किसे के पास न थी। किंतु इस चैलेंज को कृष्णा सोबती की कलम ने स्वीकार किया और अभूतपूर्व साहस के साथ उन तमाम भारतीय महिलाओं के दुःख–दर्द को, जिसे वे अपना नसीब समझकर एक ही खूंटे से बंधी रहने को विवश होती हैं, को उखाड़ फेकने का साहस भर पाती हैं जिसका प्रतिनिधित्व मित्रो करती है।

मित्रो का पति सरदारी उसकी देह की भूख शांत नहीं कर पाता है। वह कहती है कि– "अब तुम्हीं बताओ, जिठानी, तुम जैसा सत–बल कहाँ से लाऊँ? देवर तुम्हारा मेरा रोग नहीं पहचानता!...बहुत हुआ हफ्ते–पखवारे ...और मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास की मछली–सी तड़पती हूँ!"। शारीरिक भूख का ज़्यादा होना कोई गुनाह तो नहीं इसमें मित्रो का क्या दोष जिसकी वजह से वह पराये मर्दों के बीच उठती–बैठती है। यही बात उसके पति को नागवार गुजरती है और वह मित्रो को शारीरिक रूप से प्रताड़ित करता है। यह हमारे भारतीय समाज का कड़वा सत्य है कि पुरुष अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिये स्त्रियों पर ज़ोर–जुल्म करता है। जिसे औरतें अपना भाग्य समझकर रात–दिन सहती रहती हैं। किन्तु मित्रो इसके उलट है वह अपने अधिकार के प्रति सचेत है इसीलिए वह अपने पति के पुरुषत्व पर

चोट करती हुई, अपनी मनोगत भावना कुछ इस तरह व्यक्त करती है कि– "मर्द जन होते तो या चटखारे ले–ले मुझे चाटते या फिर शेर की तरह कच्चा चबा डालते।" इस तरह की इच्छा केवल मित्रो जैसी चेतना युक्त स्त्री ही कर सकती है क्योंकि जिस भारतीय समाज में स्त्रियों को पति तक चुनने का अधिकार न हो, पति को परमेश्वर का दर्ज़ा दिया गया हो, ऐसे में अगर कोई स्त्री सेक्स के प्रति रुचि दिखाती है तो उसके चरित्र को दूषित समझा जाता है। उसे पितृसत्तात्मक समाज कुलटा, वेश्या,व्यभिचारणी जैसे विशेषणों से सुशोभित करता है। उस समाज में मित्रो डंके की चोट पर अपनी शारीरिक जरूरतों को व्यक्त करती है, वह भी साठ के दशक में ही। सचमुच इसे एक क्रांतिकारी कदम कहा जा सकता है।

इस कहानी को पन्ने–दर–पन्ने पढ़ते हुये सचमुच लगता है कि जो प्रश्न मित्रो उठा रही है, वह कहीं से भी अतार्किक नहीं है बल्कि वह पाठकों को सोचने के लिये विवश करती है। हमारे भारतीय समाज में बहुत सी ऐसी महिलाएं हैं जो शारीरिक सुख न पाने की वजह से कुंठित होकर रोगग्रस्त हो जाती हैं जिसकी वजह से उनके व्यवहार में बदलाव स्पष्ट देखा जा सकता है। कहीं न कहीं मित्रो भी अपनी उसी खीझ को व्यक्त करते हुये कहती है कि– "मेरा बेअकल मर्द–जना यही नहीं जानता कि मुझ–सी दरयाई नार किस गुर से काबू आती है। मैं निगोड़ी बन–ठन के बैठती हूँ तो गबरू सौदा–सुल्फ लेने उठ जाता है। अरे, जिसने नार–मुटियार को साधने की पढ़ाई नहीं पढ़ी, वह इस बालों की बालूगड़ी को क्या सधाएगा?।" दरअसल यह हमारे समाज की विडंबना है कि पुरुष अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिये किसी भी हद तक जा सकता है। उसके लिये पत्नी की इच्छा–अनिच्छा कोई मायने नहीं रखता है। लेकिन अगर पत्नी अपनी इच्छा जाहिर करती है, तब उसे या तो गलत समझा जाएगा या फिर उसे घुट–घुट कर मरने के लिये छोड़ दिया जाएगा। मित्रो का दोष भी बस इतना है कि वह अपने पति से कुछ ज्यादा की अपेक्षा करती है। खैर अब इसमें उसकी क्या गलती, उसकी जरूरतों को पति नहीं पूरा करेगा तो कौन करेगा?। वह एक ऐसे पुरुष के साथ जीने के लिये अभिशप्त है जो न तो थाली बांटता है, न नींद और न ही दिल के दुखड़े। मित्रो अपने पति द्वारा उपेक्षित महसूस करती है। ऐसे में वह परिवार एवं समाज की मान्यताओं, मर्यादाओं और परम्पराओं की चूनर उतार फेंके तो कोई आश्चर्य नहीं।

पितृसमाज में अक्सर देखा गया है कि जब परिवार में कोई संतानोत्पत्ति नहीं होती तो फौरन लोग औरतों में कमी निकाल देते हैं। वह कमी चाहे पुरुषों के अंदर

ही हो लेकिन अपनी कमजोरी छिपाने के लिये सदैव से ही यह समाज स्त्रियों को ही कठघड़े में खड़ा किया है। इस संदर्भ में मित्रो कहती है– "मेरा बस चले तो गिनकर सौ कौरव जन डालूँ, पर, अम्मा, अपने लाडले बेटे का भी तो आड़तोड़ जुटाओ! निगोड़े मेरे पत्थर के बुत में भी कोई हरकत तो हो।" मित्रो एक ऐसे मर्द के साथ व्याही है जो उसकी शारीरिक जरूरत को पूरी करने में असमर्थ है। इसी खीझ को अपनी फब्तियों द्वारा मित्रो व्यक्त करती है। वह कहती है– "जिंद जान का यह कैसा व्यापार? अपने लड़के बीज डालें तो पुण्य, दूजे डालें तो कुकर्म।" सचमुच इस ढंग की तल्ख टिप्पणी से रूढ़िवादी समाज बेचैन हो सकता है क्योंकि यह शब्द समाज की प्रचलित मान्यताओं पर प्रश्नचिन्ह लगाता है। मित्रो बराबर पारंपरिक मान्यताओं से मुठभेड़ करती हुई दिखाई देती है। वह अपने देह सुख के लिये परिवार, मान–मर्यादा और सतीत्व जैसे पदबन्धों की कमजोरियों से बाहर निकलना चाहती है।

अंत में कहा जा सकता है कि मित्रो के माध्यम से कृष्णा सोबती ने जिन स्त्री मुद्दों और प्रश्नों को उठाया है उसका समाज से व्यापक सरोकार है। क्या वजह है कि आज भी स्त्री को पुरुषों के बराबर अधिकार नहीं है? पुरुष आज भी उसे अपने से कमतर आँकता है। स्वयं अपनी देह पर उसका किसी प्रकार का हक नहीं, पुरुष जैसा, जब और जहां चाहे उसके शरीर का उपभोग करता है। अगर वह इन सब से मुक्त होना भी चाहे तो समाज उसे इसकी इजाजत नहीं देता जैसा कि प्रस्तुत कहानी में दिखाया गया है और यही इसकी सबसे बड़ी विडम्बना है। यह केवल एक स्त्री की देह सुख की कहानी नहीं है बल्कि समाज की उस सड़ी मानसिकता की भी कहानी है जिसकी वजह से मित्रो जैसी हजारो स्त्रियाँ अभिशप्त जीवन जीने के लिये विवश हैं।

हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
ईमेल–alok15888@gmail.com
संपर्क – **9960376375**

महावीर प्रसाद द्विवेदी और 'सरस्वती'

प्रदीप त्रिपाठी (शोध–अध्येता)

पत्रकारिता जगत में जब हम पत्रिकाओं की महत्ता एवं उसके संपादकों के योगदान की चर्चा करते हैं तो उसमें महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित पत्रिका 'सरस्वती' का नाम अग्रणी है। वास्तव में द्विवेदी जी ने पत्रकारिता के इतिहास में एक नए युग की स्थापना की। 'सरस्वती' के प्रकाशन से हिंदी पत्रकारिता एवं साहित्य जगत में एक नई धारा का प्रवर्त्तन हुआ। हिंदी की यह पहली ऐसी पत्रिका थी जिसमें किसी एक मत या संप्रदाय को लेकर चलने की प्रवृत्ति न थी। 'सरस्वती' के प्रवेशांक में पत्रिका के उद्देश्य की चर्चा करते हुए उद्धृत है"इसके प्रकाशन का उद्देश्य पाठकों को विविध विषय का ज्ञान कराना है। इसके नवजीवन धारण करने का केवल यही मुख्य उद्देश्य है कि हिंदी रसिकों के मनोरंजन के साथ ही साथ भाषा के सरस्वती भंडार की अंगपुष्टि, वृद्धि और यथार्थ–पूर्ति हो तथा भाषा सुलेखकों की ललित लेखनी उत्साहित और उत्तेजित होकर विविध भावाभरित ग्रंथिराज को प्रसव कर सके।" (सरस्वती पत्रिका का संपादकीय, प्रवेशांक, 1900) पत्रिका का उद्‌भव ही भारतीय संस्कृति, साहित्य के साथ–साथ हिंदी भाषा के विकास एवं आंदोलन के रूप में हुआ है। 'सरस्वती' के माध्यम से द्विवेदी जी ने हिंदी भाषा के प्रचार–प्रसार के साथ–साथ उसके सही मूल्यांकन के प्रति साहित्यकारों एवं पाठकों को हमेशा सजग करने की कोशिश की। उन्होंने भाषा को न सिर्फ सरल, सुगम एवं सुबोध बनाने का प्रयास किया बल्कि उसके परिमार्जन के साथ–साथ शब्द–चयन, पद–रचना, वाक्य–विन्यास की दृष्टि से भी भाषा को व्याकरण अनुशासित करने का भी पुरजोर प्रयत्न किया। वास्तव में 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से द्विवेदी जी ने भाषा–परिष्कार के क्षेत्र में जो कार्य किया, वह अनूठा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने द्विवेदी जी के महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखा है– "यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित व्याकरण विरूद्ध और ऊटपटांग भाषा चारो ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रूकती। उसके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।" (शुक्ल, रामचंद्र, 2000, पृ.–528) द्विवेदी जी ने इस पत्रिका का संपादन लगभग 18 वर्षों तक किया। पूरे समय तक उन्होंने 'सरस्वती' को भाषा संस्कार, साहित्य संस्कार और हिंदी भाषी जाति के मानस संस्कार का प्रतीक बनाया। हिंदी की अनस्थिरता को स्थिरता प्रदान

करने एवं गद्य–पद्य की भाषा में एकरूपता लाने में द्विवेदी जी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इस संदर्भ में उन्होंने अपने एक लेख में लिखा है– "गद्य और पद्य की भाषा पृथक–पृथक नहीं होनी चाहिए। यह एक हिंदी ही ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य–पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए।... इसलिए कवियों को चाहिए कि क्रम–क्रम से वे गद्य की भाषा में भी कविता लिखना आरंभ करें। बोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना

द्विवेदी जी सिद्धांततः व्यक्ति स्वातंत्र्य के समर्थक थे पर व्यवहार के स्तर पर इसके विरोधी थे। इसके प्रमाण में मैथिलीशरण गुप्त को लिखे गए एक पत्र को उद्धृत किया जा सकता है। वे लिखते हैं – "आगे से आप सरस्वती में लिखना चाहें तो इधर–उधर अपनी कविताएं छपाने का विचार छोड़ दीजिए। जिस कविता को हम चाहें, उसे छापेंगे। जिसे न चाहें उसे न कहीं दूसरी जगह छपाइए, न किसी को दिखाइए, ताले में बंद करके रखिए।" (मिश्र, सत्यप्रकाश, 1996, पृ.–48) 'सरस्वती' पत्रिका के अंक की संपादकीय में पत्रिका के उद्देश्य एवं महत्ता के संबंध में संपादक ने लिखा है– "सरस्वती में केवल उत्कृष्ट कोटि की रचनाओं को ही महत्त्व दिया जाएगा और उनकी उत्कृष्टता का निर्णय लेखकों की प्रसिद्धि के आधार पर नहीं बल्कि रचना के अपने वैशिष्ट्य के आधार पर किया जाएगा।" (सरस्वती पत्रिका का संपादकीय, अंक, 4) पत्रिका के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए यदि इसके शुरुआती अंकों को देखा जाय तो इसने अपने उद्देश्यों के प्रति हमेशा सजगता बरती ही साथ ही उसका सफल निर्वहन भी किया है। द्विवेदी जी के संपादकत्व में पत्रिका का न सिर्फ साहित्यिक दृष्टिकोण बदला बल्कि 'सरस्वती' अपनी निजी भाषा और सामग्री के माध्यम से पाठक को अपनी ओर आकर्षित करने में भी सफल रही।

द्विवेदी जी के संपादकीय व्यक्तित्व के चार आदर्श थे– 1. पाठकों के लाभ–हानि का ध्यान 2. न्याय पथ से विचलित न होना 3. मालिक का विश्वास भाजन होना 4. समय की पाबंदी। द्विवेदी जी हमेशा अपने उद्देश्यों के प्रति नैतिक एवं सचेत रहे हैं। उस दौर की पत्रिकाओं में 'सरस्वती' का गौरवपूर्ण इतिहास रहा है। यहाँ तक कि 'चाँद', 'माधुरी', 'कल्पना', 'हंस' आदि पत्रिकाएँ श्सरस्वतीश के क्षेत्र विस्तार और बौद्धिक सजगता के बाद ही अपने स्वरूप में विकसित हो सकीं। 'सरस्वती' ने ही हिंदी पत्रकारिता को ऐसा व्यवस्थित आधारभूत ढांचा दिया जिससे

वह वैचारिकता को प्राप्त कर सकी। उस दौर में (तत्कालीन) शायद ही कोई ऐसा विषय रहा होगा जिस पर 'सरस्वती' में लेख न प्रकाशित हुए हो। उस दरमियान किसी भी रचनाकार के लिए 'सरस्वती' में प्रकाशित होना एक उपलब्धि थी। अपने समय में 'सरस्वती' ने हर तरह के लेखकों को जोड़ने का काम किया। एक प्रकार से देखें तो 'सरस्वती' ने उस दौर की तत्कालीन समस्याओं को उजागर करने में हिंदी भाषी समाज के लिए एक मंच का काम किया। यह काबिलेगौर है कि द्विवेदी जी के संपादन–काल में भाव और भाषा के साथ–साथ विधागत स्तर पर भी काफी प्रगति हुई। सरस्वती पत्रिका की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है कि इसने हिंदी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा–विषयक सामग्री (साहित्य की समस्त विधाओं) को अनुवाद के जरिए सामने लाने का अनूठा कार्य किया।

'सरस्वती' उस दौर की अकेली ऐसी पत्रिका है जिसने बहुत ही का समय में न सिर्फ साहित्य जगत में बल्कि हिंदी पत्रिकारिता के इतिहास में अपनी गहरी पैठ बनाई है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी इस संदर्भ में लिखा है कि– "द्विवेदी जी के सरस्वती–सम्पादन का इतिहास अनेक आंदोलनों का इतिहास है। वह उनके व्यक्तित्व और तत्कालीन समाज के विकास का इतिहास भी कहा जा सकता है।" (यामिनी, रचना भोला, 2010, पृ. 58) 'सरस्वती' के माध्यम से द्विवेदी जी ने रीतिवाद का जमकर विरोध किया। वे रीतिकालीन श्रृंगारिकता एवं नायिका–भेद के घोर विरोधी थे। उनका मानना था कि रस, भाव, अलंकार, छंद–शास्त्र और निरा नायिका–भेद का वर्णन करने से मानव–सभ्यता (जाति) का विकास संभव नहीं है। इसीलिए वे हमेशा कविता को रीतिवादी कूप से निकालकर काव्य–विषय के विस्तार के पक्षधर थे। द्विवेदी जी के संपादन–काल में समाज–सुधार, स्त्री–शिक्षा, एवं बाल–साहित्य जैसे विषयों को भी 'सरस्वती' में विशेष स्थान दिया गया। नवजागरण की चेतना का प्रसार एवं उसे जनसाधारण तक पहुंचाने में 'सरस्वती' एवं महावीर प्रसाद द्विवेदी, दोनों ने संबल का काम किया। हिंदी साहित्य की सामयिक अवस्था का चित्रण करने एवं उसका गहरा प्रभाव डालने के लिए 'सरस्वती' में व्यंग्य–चित्रों को भी यथोचित स्थान मिला है। यहाँ तक कि आधुनिक हिंदी कहानी का उदय एवं आधुनिक खड़ी–बोली कविता को प्रचार–प्रसार एवं प्रतिष्ठा भी सरस्वती से ही मिली। खड़ी बोली हिंदी को काव्य–भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना इस पत्रिका की नायाब उपलब्धि है। मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, राय देवी प्रसाद, गया प्रसाद शुक्ल

'सनेही', हरिऔध, नाथू राम 'शंकर' शर्मा, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों की रचनाएँ प्रकाशित करके द्विवेदी जी ने यह साबित कर दिया कि खड़ी बोली हिंदी में भी उच्च कोटि की कविताएं लिखी जा सकती है। कविता के साथ–साथ कहानी विधा के विकास में भी इस पत्रिका की महती भूमिका रही है। बंग महिला की 'दुलाई वाली', चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था', विश्वंभर नाथ शर्मा की 'रक्षाबंधन', प्रेमचंद की 'सौत', जैसी महत्त्वपूर्ण कहानियाँ द्विवेदी जी के ही सम्पादन में प्रकाशित हुई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निबंध 'कविता क्या है ?', कामता प्रसाद गुरु का 'fहंदी व्याकरण', मैथिलीशरण गुप्त का 'कविता किस ढंग की हो', एवं सरदार पूर्ण सिंह द्वारा लिखे गए लाक्षणिक निबंध इसी अवधि की देन है। गौर करें तो उपन्यास, नाटक, आत्मकथा, जीवनी, यात्रा–साहित्य एवं डायरी जैसी विधाओं के अतिरिक्त पुस्तक–समीक्षा के विकास में भी 'सरस्वती' की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, कामता प्रसाद गुरू, प्रेमचंद, लोचन प्रसाद पाण्डेय आदि ऐसे कई लेखक हैं जो 'सरस्वती' पत्रिका के द्वारा ही हिंदी जगत में परिचित एवं अपनी पहचान बना सके। द्विवेदी जी के संपादन काल में 'सरस्वती' में एक भी ऐसा लेख प्रकाशित नहीं हुआ जिससे समाज पर बुरा प्रभाव पड़े। द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के द्वारा हिंदी साहित्य में सुरुचि का प्रसार किया और साहित्य के क्षेत्र को खूब विस्तृत किया।

वास्तव में सरस्वती पत्रिका का उद्देश्य बहुत व्यापक था। यह संकुचित अर्थ में साहित्यिक पत्रिका न थी बल्कि यह हिंदी भाषा एवं साहित्य–सृजन की दिशा में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। 'सरस्वती' ने हिंदी भाषा और साहित्य के विकास के लिए जितना कार्य किया, वह बाद की पत्रिकाओं द्वारा न हो सका। डॉ. रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि द्विवेदी जी सीमित अर्थों में साहित्यकार नहीं हैं। उनका उद्देश्य हिंदी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना का प्रसार करना रहा है, उन्होंने उसे साबित भी किया। (शर्मा, रामविलास, 1977, पृ. 77) सही अर्थों में देखा जाय तो 'सरस्वती' सांस्कृतिक निर्माण की पत्रिका थी। आज भी इसीलिए उस पर बहस उपादेय है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गोदरे, विनोद. (2008). *हिंदी पत्रकारिता स्वरूप एवं संदर्भ.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

2. यामिनी, रचना भोला. (2010). *हिंदी पत्रकारिता उद्‌भव और विकास.* नई दिल्ली: दिनमान प्रकाशन.
3. शुक्ल, डॉ. बच्चू. (2004). *हिंदी साहित्य के विकास में सरस्वती का योगदान.* पटना: विशाल पब्लिकेशन.
4. यायावर, भारत (संपा.). (2003). *महावीर प्रसाद द्विवेदी का महत्त्व,* नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन.
5. शर्मा, डॉ. रामविलास. (1977). *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण.* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
6. मिश्र, सत्यप्रकाश (संपा.). (1996). *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी पत्रकारिता.* इलाहाबाद : इलाहाबाद संग्रहालय.
7. सिंह, बच्चन. (2003). *हिंदी पत्रकारिता का नया स्वरूप.* वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन.
8. त्रिपाठी, रमेश चंद्र. (2005). *पत्रकारिता के सिद्धांत.* नई दिल्ली: अशोक प्रकाशन.
9. यायावर, भारत (संपा.). (2008). *महावीर प्रसाद द्विवेदी रचना संचयन.* नई दिल्ली: साहित्य अकादमी प्रकाशन.
10. शुक्ल, रामचंद्र. (2000). *हिंदी साहित्य का इतिहास.* इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन.

ईमेल–**tripathiexpress@gmail.com**

"आधी आबादी की शैक्षिक स्थिति"

सुमित गंगवार

"यदि एक पुरुष शिक्षित होता है तो वह केवल व्यक्तिगत जीवन के लिए शिक्षित होता है, लेकिन यदि एक महिला शिक्षित होती है तो पूरा परिवार शिक्षित हो जाता है।"

पंडित जवाहर लाल नेहरू

शिक्षा के द्वारा मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है। शिक्षा के द्वारा ही मानव आत्मनिर्भर एवं आत्मविश्वासी होने के साथ जीवन के प्रत्येक पहलू को सोचने तथा समझने की योग्यता प्राप्त करता है। पुरुष तथा महिलाएं इस समाज के निर्माण में बराबर के हिस्सेदार होते हैं। यदि महानगरों को छोड़कर ग्रामीण क्षेत्र की बात की जाएँ तो वर्तमान समय में भी उसकी स्थिति घर की चहरदीवारी में बंद, डरी सहमी तथा घरेलू कामों को करती हुई पायी जाती है। शिक्षा तो दूर की बात उसे समाज के सामान्य कार्यों में भी बराबरी का दर्जा प्राप्त नहीं होता। 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या 1210.19 मिलियन थी। जिसमें पुरुषों की संख्या 623.72 मिलियन (51.5 प्रतिशत) तथा महिलाओं की संख्या 586.47 मिलियन (48.5 प्रतिशत) थी अर्थात भारत की सम्पूर्ण जनसंख्या में महिलाओं की जनसंख्या आधी है। भारतीय संविधान में महिलाओं के अधिकारों की विभिन्न अनुच्छेदों में व्याख्या की गई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात गठित होने वाले प्रत्येक आयोग, नीति तथा समिति ने महिला सशक्तिकरण में शिक्षा की भूमिका स्वीकार करते हुए उनकी शिक्षा के लिए अनेक सुझाव दिये। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948–49) में कहा गया कि "शिक्षित स्त्रियों के बिना पुरुष शिक्षित नहीं हो सकते। यदि सामान्य शिक्षा पुरुष तथा स्त्रियों के लिए सीमित रखी जानी हो, तो यह अवसर स्त्रियों को दिया जाना चाहिए, इससे यह अधिक निश्चितता से आगामी पीढ़ी को हस्तांतरित की जा सकेगी।" परंतु सत्यता तो यह है कि आज़ादी के सत्तर वर्षों के बीत जाने के बाद भी महिलाओं की

 ISSN 2455–4502

जनसंख्या का एक बड़ा भाग शिक्षा की पहुँच से दूर हैं। वर्ष 2011 में हुई जनगणना के अनुसार भारत में पुरुषों की साक्षरता दर 82.14 प्रतिशत तथा महिलाओं की साक्षरता दर 65.46 प्रतिशत है, जो एक विचारणीय समस्या है।

स्त्री शिक्षा की वर्तमान स्थिति–

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही भारत सरकार ने शिक्षा की स्थिति में सुधार हेतु समय–समय पर विभिन्न आयोगों जैसे– विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948–49), माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952–53), राष्ट्रीय शिक्षा आयोग (1964–66), राष्ट्रीय ज्ञान आयोग (2006–2009) विभिन्न शिक्षा राष्ट्रीय जैसे– राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968), राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986), संशोधित राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1992) तथा विभिन्न शिक्षा समितियों जैसे– आचार्य नरेंद्र देव समिति द्वितीय (1952–53), दुर्गाबाई देशमुख समिति (1957–59), हंसा मेहता समिति (1964), प्रो० यशपाल समिति (1992–93) का गठन किया। इन आयोगों, राष्ट्रीय तथा समितियों ने शिक्षा के विभिन्न पहलुओं में सुधार के साथ–साथ स्त्री शिक्षा में सुधार संबन्धित विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किए। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में भी स्त्री शिक्षा में सुधार हेतु विभिन्न योजनाओं जैसे– महिला समाख्या योजना, शिक्षा गारंटी योजना, कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय, प्राथमिक स्तर पर बालिकाओं की शिक्षा का राष्ट्रीय कार्यक्रम,पढ़े बिटिया बढ़े बिटिया, बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ तथा लाड़ली योजना का क्रियान्वयन किया जा रहा है। परंतु फिर भी आधुनिक समय में महिलाओं की शैक्षिक स्थिति आशाजनक नहीं है।

भारत में नागरिकों की साक्षरता दर

वर्ष	पुरुष साक्षरता दर (प्रतिशत में)	महिला साक्षरता दर (प्रतिशत में)
1951	24.9	7.3
1961	34.9	13.0
1971	39.5	18.7
1981	46.9	24.8
1991	63.9	39.2
2001	76.0	54.0
2011	82.14	65.96

 ISSN 2455–4502

उपरोक्त तालिका के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि 1951–2011 तक तुलनात्मक रूप से पुरुषों की साक्षरता दर में पर्याप्त वृद्धि हुई है जबकि महिलाओं की साक्षरता दर में वांछित वृद्धि नहीं हुई है।

राज्यवार महिला साक्षरता दर (वर्ष 2011 की जनगणना के आधार पर)

क्रम संख्या	राज्य का नाम	महिला साक्षरता दर (प्रतिशत में)
1.	आंध्रप्रदेश	59.7
2.	अरुणाचल प्रदेश	59.6
3.	असम	67.3
4.	थ्बहार	53.3
5.	छत्तीसगढ़	60.6
6.	गेवा	81.8
7.	गुजरात	70.7
8	हरियाणा	66.8
9.	हिमाचल प्रदेश	76.6
10.	जम्मू–कश्मीर	58.0
11.	झारखण्ड	56.2
12.	कर्नाटक	68.1
13.	केरल	92.0
14.	मध्यप्रदेश	60.0
15.	महाराष्ट्र	75.5
16.	मणिपुर	73.2
17.	मेघालय	73.8
18.	मिज़ोरम	89.4
19.	नागालैंड	76.7
20.	उडीसा	64.4
21.	पंजाब	71.3
22.	राजस्थान	52.7
23.	सिक्किम	76.4
24.	तमिलनाडु	73.9
25.	त्रिपुरा	83.1

26.	उत्तर प्रदेश	59.3
27.	उत्तराखण्ड	70.7
28.	पश्चिम बंगाल	71.2

केंद्र शासित प्रदेशों में महिला साक्षरता दर (वर्ष 2011 की जनगणना के आधार पर)

क्रम संख्या	राज्य का नाम	महिला साक्षरता दर (प्रतिशत में)
1.	अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूह	81.8
2.	चंडीगढ़	81.4
3.	दिल्ली	80.9
4.	दादर तथा नगर हवेली	65.9
5.	दमन तथा दीव	79.6
6.	लक्ष्यद्वीप	88.2
7.	पुदुचेरी (पाण्डचेरी)	81.2

उपरोक्त तालिका के अवलोकन से स्पष्ट है कि वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार पूरे भारत में महिला साक्षरता का औसत 65.46 प्रतिशत है। सर्वाधिक महिला साक्षरता दर केरल (92.0 प्रतिशत) तथा सबसे कम साक्षरता दर राजस्थान (52.7 प्रतिशत) हैं। 2001–2011 के दशक में महिला साक्षरता दर में 11 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

भारत में स्त्री शिक्षा में बाधक तत्व–

भारत में स्त्री शिक्षा में बाधक तत्व निम्नलिखित हैं–

1. सहशिक्षा के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण।
2. भारतीय समाज में रूढ़िवादी व्यक्तियों का बाहुल्य।
3. सरकारी विद्यालयों की भौतिक स्थिति।
4. विद्यालयों में शिक्षिकाओं की कम नियुक्ति।

5. ड्रॉप आउट की समस्या।
6. लैंगिक भेद युक्त पाठ्यक्रम।
7. विद्यालयों में संसाधनों का अभाव।
8. परिवार में महिला शिक्षा के प्रति जागरूकता का अभाव।

भारत में स्त्री शिक्षा में सुधार हेतु उठाये जाने वाले कदम –

कोठारी आयोग (1964–66) ने भी कहा है कि यदि समाज में बड़े पैमाने पर हिंसा रहित परिवर्तन लाना है तो उसका सबसे शक्तिशाली माध्यम शिक्षा ही है। बालिकाओं की शिक्षा, उनके व्यक्तिगत जीवन तथा समाज की स्थिति में सर्वाधिक शक्तिशाली उपकरण है। शिक्षा ही सामाजिक असमानताओं में कमी लाकर परिवार के भीतर उनकी स्थिति में सुधार लाती है। वर्तमान भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री शिक्षा में सुधार हेतु निम्नलिखित कदम उठाए जाने चाहिए–

1. लिंग भेद को कम करने तथा महिला शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में समय–समय पर विभिन्न कार्यशालाओं, सेमिनारों, प्रदर्शनियों, प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाना चाहिए।
2. सामान्य विद्यालयों में सीमांत परिवारों की बालिकाओं, गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले परिवारों की बालिकाओं को विशेष स्थान देकर उनकी स्थिति में सुधार करना चाहिए।
3. बालिकाओं के लिए निःशुल्क पुस्तकें, विद्यालयी वेशभूषा, भोजन, छात्रवृत्ति आदि को प्रदान करने के लिए विशेष पैकेज का प्रावधान करना चाहिए।
4. स्त्री शिक्षा के विकास के लिए अर्द्धसरकारी संस्थाओं, स्थानीय संस्थाओ, स्वैच्छिक संगठनों, अध्यापक संघों तथा जनसामान्य का सहयोग लेना चाहिए।

5. ग्रामीण तथा शहरी सभी क्षेत्रों में निर्धन अभिभावकों तथा समाज के अन्य लोगों को लड़कियों की शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

6. सरकार द्वारा आनुपातिक स्तर पर लड़कियों का अधिक नामांकन तथा अधिक औसत उपस्थित वाले विद्यालय के गाँव को पुरस्कृत किया जाना चाहिए।

7. बालिकाओं की शिक्षा संस्थाओं को सहायता अनुदान देने की शर्तों को सरल बनाया जाना चाहिए।

8. अपव्यय तथा अवरोधन की समस्या को दूर करने के लिए उचित एवं प्रभावी कदम उठाने चाहिए।

निष्कर्ष–

भारत सरकार ने स्त्री शिक्षा के प्रसार तथा उन्नयन के लिए विभिन्न कदम उठाये हैं परंतु फिर भी समय समय पर होने वाले शोध कार्यों से पता चलता है कि आज 2017 मे भी स्त्री शिक्षा उस स्तर को प्राप्त नहीं कर पाई है जिसकी स्तर को प्राप्त करने की बात विभिन्न शिक्षाविदों, समाजशास्त्रियों, आयोगों, नीतियों, तथा समितियों ने कही है। स्त्री शिक्षा के प्रसार तथा उन्नयन के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं, अनेक कठिनाइयां हैं औए ये बाधाएँ एवं कठिनाइयां ही स्त्री शिक्षा की समस्यायें हैं। इन बाधाओं एवं कठिनाइओं को दूर करने के लिए हम सभी को एक जुट हो कर कार्य करने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ

1. अग्निहोत्री, आर. (2013). *आधुनिक भारतीय शिक्षाः समस्यायें एवं समाधान.* जयपुरः राजस्थान ग्रंथ अकादमी.
2. बहुगुणा, यू. (2012). महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक सशक्तिकरण की प्रगति. **संदर्भ**, 2(1), पृष्ठ संख्या.29–38.
3. कुमार. जे. एंड संगीता. (2013). वुमेन एजुकेशन इन इंडिया. *एजूकेशनिया कोनफेव,* 2(4), पृष्ठ संख्या. 162 –176
4. लाल, आर. बी. तथा शर्मा, के. (2015) *भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्यायें.* मेरठः आर. लाल बुक डिपो. पृष्ठ संख्या. 545–558.

5. मिश्रा, एस. के. (2015). *भारत मे शिक्षा व्यवस्था.* मेरठः आर. लाल बुक डिपो. पृष्ठ संख्या. 212–239.
6. सिंह, बी. एन. तथा सिंह, जे. (2013). *नारीवाद.* जयपुररू रावत पब्लिकेशन. पृष्ठ संख्या. 220–255.
7. जनगणना आयोग, भारत सरकार– जनगणना 2011.

सामाजिक अनुसंधान और तकनीकी विकास

अनुराग कुमार पाण्डेय

समाज के बारे में ज्ञान प्राप्त करने, अर्जित ज्ञान को परिष्कृत करने और कुछ सैद्धान्तिक अवधारणाओं के विकास हेतु प्रतिबद्धता के रूप में सामाजिक अनुसंधान की परिणति होती है तथा इसमें समाज से अंतर्संबंधित कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं पर स्पष्ट व व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत किया जाता है। इस स्पष्ट व व्यवस्थित विवरण की व्यावहारिक और नैतिक विश्वसनीयता के लिए यह अत्यंत आवश्यक होता है कि कुछ तथ्यों, आंकड़ों व सूचनाओं के आधार पर इसे वैधानिकता का आवरण प्रदान किया जाय। सामाजिक अनुसंधानकर्ता इन आंकड़ों को विभिन्न प्रकार की अध्ययन सामग्री की सहायता से संबंधित अध्ययन क्षेत्र से प्राप्त करता है। आंकड़ों के संकलन से निर्वचन तक प्रौद्योगिकी और उसकी तकनीकें अत्यंत कारगर सिद्ध होती हैं। प्रौद्योगिकी तकनीक न केवल आंकड़ों को सरलता से अभिव्यक्त करती है, अपितु उनकी अशुद्धियों की आशंका को भी कम करती है। हालांकि इसके उचित उपयोग हेतु कौशल और दक्षता के साथदृसाथ पर्याप्त जानकारी का होना नितांत आवश्यक है। समकालीन समय में प्रौद्योगिकी तकनीकों ने इस क्षेत्र में अकूत व विश्वसनीय कार्य किए हैं जो अनुसंधान कार्यों की दिशा और शुद्धता के समृद्ध करने में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वहन करते हैं।

सामाजिक अनुसंधान के माध्यम से हम समाज के बारे में अपने ज्ञान को निर्मित, व्यवस्थित और संवर्धित करते हैं तथा इस कार्य हेतु कुछ वैज्ञानिक प्रविधियों व तकनीकों का सहयोग अपेक्षित होता है। संश्लिष्ट ज्ञान की इस यात्रा में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक तथ्यों के संकलन व निर्वचन के आधार पर अनुसंधानकर्ता किसी निष्कर्ष/उपसंहार को प्रस्तुत करता है। इस प्रौद्योगिक युग में नाना प्रकार की सूचनाओं के बारे में संज्ञान करना और उन्हें प्राप्त/संकलित करना तथा संकलित की गई सूचनाओं का निर्वचन करना अत्यंत सरल कार्य हो गया है। अनेक इलेक्ट्रानिक माध्यमों की सहायता से अनुसंधान और विकास कार्यों का अध्ययन, निर्माण, संग्रहण, आदान–प्रदान आदि सुगम्य हो गया है। शिक्षा के क्षेत्र में तकनीकी विकास की उपयोगिता उल्लेखनीय है। समकालीन संदर्भ में शिक्षा को सरल, बोधगम्य और रुचिकर बनाने के लिए विभिन्न प्रकार की तकनीकों को प्रयोग में लाया जा रहा है

और इन तकनीकों का सफल दोहन करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति की कार्य कुशलता उच्च कोटि की हो। जो व्याख्यान पेंसिल और बोर्ड के सहारे से कक्षा में हुआ करते थे, आज उनके स्वरूप में काफी अंतर आ गए हैं। आज पाठन–कक्ष कई प्रकार की शैक्षिक तकनीकों से लैस रहते हैं जिसकी सहायता से किसी भी कठिन विषय को भी सरलता से बोधगम्य बनाया जा सकता है।

निःसन्देह पठन–पाठन, लेखन और निर्देश आदि के लिए उपयुक्त पारंपरिक तकनीकों और विधियों की महत्ता उच्च कोटि की है परंतु हम इस बात को भी दरकिनार नहीं कर सकते हैं कि उन पारंपरिक तकनीकों तथा समकालीन प्रौद्योगिक तकनीकों का समन्वित उपयोग शैक्षिक क्षेत्र में अधिक संतोषजनक है। आकर्षित और उत्कृष्ट होने के कारण इस समन्वित प्रयास से सीखने की क्षमता भी संवर्धित होती है। हालांकि, इस क्षेत्र में भी कुशल अध्यापकों की उपस्थिति नितांत आवश्यक है, जो उन तकनीकों का प्रयोग सफलतापूर्वक कर सकें।

उच्च शिक्षण संस्थानों व विश्वविद्यालयों में किए जाने वाले अनुसन्धानों को बड़े पैमाने पर सरकारी बजट प्राप्त होता है। परंतु यदि बजट के अनुरूप उसकी गुणवत्ता पर ध्यान आकृष्ट किया जाय तो यह अनुपात काफी कम है। सामान्य तौर पर सामाजिक अनुसंधान में अनुसंधानकर्ता प्रौद्योगिकी का प्रयोग आंशिक रूप में ही करता है जिसके कारण उसे अनेक प्रकार की कठिनाइयों व त्रुटियों से अवगत होना पड़ता है। वर्तमान समय में विभिन्न अनुसंधानकर्ताओं द्वारा अध्ययन की द्वितीयक सामाग्री को संकलित करने में प्रौद्योगिक तकनीकों का प्रयोग किया जाता है परंतु पर्याप्त जानकारी के अभाव के कारण कई बार अध्ययन सामाग्री कुछ ऐसे स्रोतों से चयनित कर ली जाती है, जो कि वास्तव में विश्वसनीय नहीं होती है। वहीं यदि अनुसंधानकर्ता कुशल है और उसे प्रौद्योगिक तकनीकों के बारे में पर्याप्त ज्ञान है तो वह उन्हीं स्रोतों का चयन अनुसंधान की गुणवत्ता को सँवारने के लिए करेगा, जो कि विश्वसनीयता और वैधानिकता के पैमाने के सन्निकट होंगे। कुछ वेबसाइट और ऑनलाइन जर्नल होते हैं जो विद्वानों द्वारा विश्वसनीय माने जाते हैं और इनके बारे में अनुसंधानकर्ता को जानकारी होनी चाहिए। अनुसंधान की गुणवत्ता में सुधार की दृष्टि से उपयोगी कुछ प्रमुख इंटरनेट साइट्स अधोलिखित हैं –

- www.core.ac.uk/search/
- www.doaj.org

- www.oajse.com
- www.opendoar.org
- www.base-search.net
- www.ssoar.info/en
- www.psychology.org
- www.academic.microsoft.com

इसके अलावा गूगल स्कॉलर, शोध गंगा, शोध गंगोत्री, इन्फ़्लिब्नेट, जेस्टोर, ई. पी.डबल्यू. आदि प्रकार के कई सारे स्रोत हैं जिनके बारे में संज्ञान संभवतः अनुसंधानकर्ताओं को होता है। ये सभी स्रोत न केवल द्वितीयक आंकड़ों के संकलन में सहायता प्रस्तुत करते हैं, अपितु अन्य अविश्वसनीय स्रोतों के त्रुटिपूर्ण आंकड़ों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं से बचाव भी करते हैं। इससे अनुसंधानकर्ता अपने अनुसंधान को गुणवत्तापूर्ण दिशा में अग्रेसित कर सकेगा और उसका संचयित ज्ञान भी समृद्ध होगा, जो उसके शैक्षणिक भविष्य को उज्ज्वल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करेगा। कुछ ऐसे भी इंटरनेट स्रोत होते हैं, जहां से जानकारी को संकलित करना अत्यंत आसान और त्वरित होता है। इन स्रोतों को 'मेटासर्च इंजन' कहा जाता है। इन्हें मेटासर्च इंजन का नाम इसलिए दिया गया है क्योंकि कर्ता जब इन स्रोतों का प्रयोग जानकारी को तलाशने के लिए करता है तो वह वास्तविकता में मात्र इन्हीं स्रोतों का प्रयोग ही नहीं कर रहा होता है, बल्कि ये स्रोत कई अन्य संबंधित सर्च इंजन्स की सहायता से उचित और आवश्यक जानकारी को प्राप्त करने में मदद करते हैं। अर्थात् मेटासर्च इंजन वास्तव में कई सारे सर्च इंजन्स का एक गुच्छा होता है और इसे कारण से इसे मेटासर्च इंजन का नाम दिया गया है। यहाँ कुछ प्रमुख मेटासर्च इंजन का विवरण दिया जा रहा है –

- http://www.dogpile.com/
- https://www.metacrawler.com/
- http://www.excite.com/
- http://www.apollo7.co.uk/
- http://www.goofram.com/
- http://www.gopher.com/

- http://www.monstercrawler.com/
- https://www.unbubble.eu/
- https://duckduckgo.com/
- https://en.ellpedia.com/

आज के तकनीकी और कंप्यूटर युग में द्वितीयक आंकड़ों को संकलित करना अत्यंत सरल हो गया है। इसके लिए अनुसंधानकर्ता को लाइब्रेरी तथा अन्य साहित्यिक संगठनों आदि के चक्कर नहीं काटने पड़ते। कुछ ऐसे तकनीकी स्रोत हैं, जो एक जगह बैठे–बैठे सटीक तथा व्यावहारिक तथ्य और पुस्तकें सुगमता से उपलब्ध करा देते हैं। कुछ वेबसाइट्स पुस्तकों व साहित्यों को ऑनलाइन पढ़ने की ही सुविधा प्रदान करती हैं, जबकि कुछ उन्हें डाऊनलोड करने का विकल्प भी प्रदान करती हैं। समान्यतः ये साइट्स मुफ्त में ही अपनी सेवाएँ प्रदान करती हैं। इस प्रकार के कुछ प्रमुख लिंक यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं –

- https://www.worldcat.org/
- https://books.google.co.in/
- https://openlibrary.org/
- http://en.bookfi.net/
- https://link.springer.com/
- http://manybooks.net/
- https://www.highbeam.com/
- http://vadlo.com/
- https://www.pdfdrive.net/
- http://www.bioline.org.br/
- http://www.jurn.org/#gsc.tab=0
- http://www.44books.com/

सरलता से और सॉफ्ट फॉर्मेट में तथ्यों के उपलब्ध हो जाने से कुछ समस्याएँ भी उभरकर सामने आयी हैं। उन्हीं समस्याओं में से एक और विकट समस्या 'साहित्यिक चोरी' अर्थात् 'प्लेगरिज़्म' की है। साहित्यिक चोरी का तात्पर्य किसी अन्य

 ISSN 2455–4502

के कार्य को बिना उसके उद्धरण अथवा क्रेडिट के उपयोग करने से है। यह सीधे तौर पर किसी की बौद्धिक संपत्ति की चोरी से संबंधित है। एक अनुसंधानकर्ता को इससे बचना चाहिए तथा किसी के साहित्य के उपयोग के दौरान उसका उद्धरण अवश्य करना चाहिए। कुछ ऐसी ऑनलाइन इंटरनेट साइट्स हैं जो साहित्यिक चोरी को पकड़ने का काम करती हैं और संबन्धित आलेख अथवा साहित्य में इसके प्रतिशत को बताती हैं। समान्यतः ये साइट्स मुफ्त में उपयोग की जा सकती हैं, हालांकि कुछ साइट्स के उपयोग हेतु शुल्क भी देना पड़ता है। साहित्यिक चोरी की संसूचक प्रमुख इंटरनेट साइट्स के लिंक निम्नलिखित हैं –

- https://noplag.com/
- https://www.duplichecker.com/
- https://www.quetext.com/
- https://www.scanmyessay.com/
- https://copyleaks.com/
- http://plagiarisma.net/
- http://www.plagiarismchecker.com/
- http://www.plagtracker.com/
- http://www.plagium.com/
- https://www.plagscan.com/en/

शैक्षिक नवाचार के तौर पर कुछ विश्वविद्यालय और शिक्षण संस्थान ऑनलाइन शैक्षिक कोर्स भी चलाते हैं जो कि शिक्षा की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी हैं परंतु पर्याप्त ज्ञान की अनुपलब्धता के कारण शोधार्थी इसका लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। यदि उन्हें इस प्रकार के ऑनलाइन पाठ्यक्रमों के बारे में संज्ञान हो, तो वे अपने वर्तमान ज्ञान को परिष्कृत कर सकते हैं और उसे संवर्धित कर समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की प्रक्रिया में अपना सशक्त अनुमोदन कर सकते हैं। कुछ इसी प्रकार की इंटरनेट साइट्स यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं –

- www.nptel.ac.in
- www.nroer.in
- https://www.coursera.org/

- www.edx.org
- https://www.openlearning.com/
- www.ocw.mit.edu
- www.apnacourse.com
- https://www.open2study.com/
- www.jnu.ac.in/mooc
- www.iimb.ernet.in/iimbt
- www.vle.du.ac.in

प्रौद्योगिक तकनीकों का प्रयोग केवल द्वितीयक आंकड़ों तक ही सीमित नहीं है। ये तकनीकें प्राथमिक आंकड़ों के संकलन में भी उल्लेखनीय भूमिका निभाती हैं। जब शोधार्थी अध्ययन क्षेत्र में सूचनाओं को संकलित करने के लिए जाता है तब उसके पास कंप्यूटर द्वारा छापी गई स्पष्ट शब्दों की अनुसूची अथवा साक्षात्कार सूची तो होती ही है और साथ ही उसे अध्ययन क्षेत्र में स्वयं की और कुछ क्षेत्र की महत्वपूर्ण छवियों का भी संकलन कर लेना चाहिए, ताकि अध्ययन क्षेत्र में उसकी उपस्थिति पर कोई प्रश्न चिह्न न रह सके। इसके अलावा ये छवियाँ अनुसंधानकर्ता को उसके अध्ययन क्षेत्र से जुड़ी कई कमियों और कई तथ्यों को उजागर करने में मदद करती हैं। अनुसंधानकर्ता को अपने साथ एक ध्वनि रिकार्डर भी रखना चाहिए। मस्तिष्क की अपनी सीमा होती है और वह कुछ सीमित बातें ही याद रख पाने में सक्षम होता है। इसलिए क्षेत्र में प्राप्त सभी सूचनाओं के संकलन में इस तकनीक से काफी सहायता मिलती है। कई बार विश्वसनीय और सटीक सूचनाओं की प्राप्ति के लिए वीडियो रिकार्डिंग भी एक उपयोगी तकनीक रहती है क्योंकि इसमें अनुसंधानकर्ता न केवल सूचनाओं को संकलित करता है, अपितु उत्तरदाता के हाव–भाव आदि के बारे में भी जानकारी प्राप्त करता रहता है तथा यह रिकॉर्डिंग अनुसंधानकर्ता द्वारा किए जाने वाले निर्वचन में अत्यंत कारगर सिद्ध होगी।

अनुसंधान के दौरान सर्वे करने तथा आंकड़ें संकलित करने के क्षेत्र में भी ऑनलाइन तकनीक पीछे नहीं हैं। ऐसे भी इंटरनेट साइट्स हैं, जो सर्वे करने के लिए तकनीक और प्रारूप उपलब्ध कराते हैं। कुछ ऑनलाइन सर्वे के इंटरनेट लिंक अधोलिखित हैं –

- https://www.surveymonkey.com/
- https://surveyplanet.com/
- https://kwiksurveys.com/
- https://www.questionpro.com/in/
- https://freeonlinesurveys.com/
- https://www.surveygizmo.com/
- https://www.esurveyspro.com/
- https://survs.com/
- https://www.zoho.com/survey/
- https://cooltool.com/onlinesurveys

आंकड़ों को संकलित कर लेने के पश्चात अगला चरण आंकड़ों के निर्वचन का होता है। यह चरण अनुसंधान की विश्वसनीयता और गुणवत्ता की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी होता है। अध्ययन क्षेत्र से प्राप्त आंकड़ें अर्थहीन और बिखरे हुये रहते हैं तथा उन्हें अर्थपूर्ण औचित्य प्रदान करने के लिए आवश्यक होता है कि उन्हें सुनियोजित तरीके से व्यवस्थित और विश्लेषित किया जाय। यदि अनुसंधानकर्ता आंकड़ों का निर्वचन बिना किसी प्रौद्योगिक तकनीक की सहायता के करता है तो उसमें समय अधिक लगेगा, अधिक तार्किकता लगेगी और साथ ही त्रुटिपूर्ण निर्वचन होने की भी संभावना बनी रहती है। वहीं यदि यह निर्वचन किसी तकनीक के माध्यम से किया जाय तो बहुत ही अल्प समय में, कम मेहनत से विश्वसनीय और सटीक निर्वचन कर पाना अपेक्षाकृत सरल होता है। आंकड़ों को विभिन्न प्रकार के सॉफ्टवेयर की सहायता से आसानी से बोधगम्य बनाया जा सकता है। इसके लिए आवश्यक सॉफ्टवेयर अधोलिखित हैं –

- Excel
- SPSS (Statistical Package for the Social Sciences)
- SAS (StatisticalAnalysis System)
- Stata
- MaxStat

- ESBStats
- CSPro
- R
- Eviews
- Analyse-it

उक्त लिखित विविध सॉफ्टवेयर आंकड़ों के निर्वचन व विश्लेषण के लिए उपयोगी हैं। इनके प्रयोग से आंकड़ों को सरलता से समझने योग्य बनाया जा सकता है। इन सभी की कुछ सीमाएं और उपयोगिताएँ हैं, जिसके आधार पर अनुसंधानकर्ता द्वारा इनके चयन को सुनिश्चित किया जाता है। ये तकनीकें आंकड़ों को सरलता से सारणीकृत और विश्लेषित करने में कारगर होती हैं। अनुसंधानकर्ता के कौशल विकसित होने से बड़े पैमाने पर श्रम व समय को बचाया जा सकता है और साथ ही सटीक व त्रुटिरहित निष्कर्ष को प्रतिपादित किया जा सकता है।

पी.एच.डी. समाजशास्त्र
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
मो. नं. ***7398022221, 7905284927***
ईमेल –***Anurag.100pandey@gmail.com***

शांतिनिकेतन में गांधीजी

बिजय कुमार रबिदास

भारतीय इतिहास में सन 1913 अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं गौरव का वर्ष है। इस समय दो ऐसी घटनाएं हुई जिसने पूरे विश्व का ध्यान भारत की ओर आकर्षित किया। एक ओर साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम 'नोबल पुरस्कार' के विजेता के रूप में घोषित हुआ तो वहीं दूसरी ओर दक्षिण अफ्रीका में मोहनदास करमचन्द गांधी एक आंदोलनकारी नेता के रूप में उभरे। यही वह समय था जब ये दोनों जननायक एक उज्जवल नक्षत्र की तरह विश्व आकाश में चमके और आगे चलकर पूरे देश की सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की गति को एक नई दिशा दी।

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने 'सत्याग्रह' के जरिए अंग्रेजी शासन की जड़े हिला दी थी। आंदोलन के दौरान वे सही निर्देश और दिशा की आवश्यकता महसूस कर रहे थे। इसलिए उन्होंने अपने राजनीतिक गुरु गोखलेजी को एक पत्र लिखा। गोखलेजी का निर्देश लेकर सी. एफ. एण्ड्रयूज और पियर्सन दक्षिण अफ्रीका जाने की तैयारी करने लगे। जाने से पहले वे अपने गुरु रवीन्द्रनाथ से आशीर्वाद लेने शांतिनिकेतन पहुँचे। वहां आम्रकुंज में उनके लिए एक विदाई–सभा का आयोजन किया गया था, जिसमें पियर्सन महोदय अपनी बात रखते हुए कहा था, "शांतिनिकेतन के आश्रम से जो शान्ति हम साथ ले जा रहे हैं वह दक्षिण अफ्रीका के कार्य में हमारी सहायता करेगी।"1

'सत्याग्रह' आंदोलन सफल होने के बाद गांधीजी अफ्रीका छोड़कर इंग्लैंड होते हुए भारत लौटने की सोच रहे थे। पर 'फिनिक्स विद्यालय' के विद्यार्थियों को लेकर एक समस्या उत्पन्न हो गई। समस्या यह थी कि उन्हें कहां ले जाया जाए ? भारत में वे कहां रहेंगे ? जब तक वे स्वदेश नहीं लौट जाते तब तक उनके लिए एक स्थायी बंदोबस्त करना जरुरी था। ऐसे में गांधीजी का ध्यान अपने मित्र एण्ड्रयूज की

ओर जाता है। दक्षिण अफ्रीका से एण्ड्रयूज और पियर्सन को शांतिनिकेतन लौटे अभी कुछ ही महीने हुए थे कि अचानक इंग्लैंड से एण्ड्रयूज के नाम से गांधीजी का भेजा एक तार मिला, जिसमें कहा गया था– "फिनिक्स मंडली के विद्यार्थी भारत लौट रहे हैं...अगर किसी उपयुक्त आश्रम में उनकी व्यवस्था हो जाए तो गांधीजी निश्चिन्त होंगे।"2 पियर्सन महोदय ने गुरुदेव से चर्चा करके उन्हें आने की अनुमति दे दी। वे लड़के गांधीजी के भतीजे मगनलाल गांधी के साथ भारत लौट रहे थे। संख्या में वे अठारह थे और उनमें से तो कुछ बहुत ही कम उम्र के थे। इन लड़कों में गांधीजी के तीन लड़के भी थे। श्री मगनलाल इन लड़कों के अध्यापक एवं अभिभावक की तरह थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बड़ी प्रसन्नता से शांतिनिकेतन में उनका स्वागत किया। ये लड़के खूब मेहनती थे और अपना सारा काम–काज स्वयं करते थे। इनके रहन–सहन, आचार–विचार सबकुछ शांतिनिकेतन के आश्राम–जीवन से भिन्न था। यहां वे स्वतंत्र रूप से रह सके, इसके लिए रवीन्द्रनाथ ने अपने निवास स्थान 'देहली' के करीब 'नूतन बाड़ी' में उनके रहने की व्यवस्था कर दी।

फिनिक्स विद्यार्थियों के आने के बाद रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एण्ड्रयूज के माध्यम से गांधीजी को शांतिनिकेतन आने का निमंत्रण भिजवाया। गांधीजी ने सहर्ष निमंत्रण स्वीकार किया और शांतिनिकेतन की यात्रा पर निकल पड़े। रवीन्द्रनाथ उन दिनों कलकत्ता में थे। उनके निर्देशानुसार आश्रमवासी अतिथि के स्वागत कार्य में जुट गए। 17 फरवरी, 1915 को गांधीजी अपनी पत्नी कस्तूरबा के साथ पहली बार शांतिनिकेतन आए। उनका स्वागत हिन्दू–रीति–विधान के अनुसार किया गया। उनके स्वागत के लिए आश्रम में तीन तोरण(द्वार) बनाए गए थे। पहले द्वार पर चन्दन और फूलों से उनका स्वागत किया गया और एक सुन्दर सी माला पहनाई गई। इस अवसर पर आश्रम के संगीत अध्यापक श्री भीमराव शास्त्री ने एक स्वागत गान गाया। फिर वे दूसरे द्वार पहुँचे। वहां उन्होंने अपने पैर धोए और वहां भी एक माला पहनाई गई। फिर वे तीसरे द्वार पहुँचे। वहां वैदिककालीन वेदी के जैसा एक मिट्टी का आसन बना हुआ था। "चार केले के स्तम्भ और आम्रपल्लव सहित जल से पूर्ण चार कलश चारों कोनों पर सजाये गए थे। अभ्यर्थना के चार थाला में प्रत्येक में पांच–पांच दीपक सजाकर गांधीजी और उनकी पत्नी के सामने रखे गए थे। महिलाओं की ओर से एक बालिका ने उन्हें फूलों की माला पहनाई, श्रीमती गांधी के ललाट पर सिंदूर की बिंदी लगाई।"3 जब उन्होंने अपना आसन ग्रहण किया तब क्षितिमोहन और दत्तात्रेय कुछ

वैदिक मंत्रों का पाठ कर रहे थे। उसके बाद दिनेनेद्रनाथ ठाकुर ने अपनी संगीत मंडली के साथ एक गीत गाया।

इस प्रकार जनाकूल से दूर हरे कुंजों की छाया में शांतिनिकेतन ने पूरे बंगाल की तरफ से भारतवर्ष के भावी नेता का विशुद्ध भारतीय विधि से स्वागत किया। शांतिनिकेतन की सादगी, कला, संगीत और स्नेह ने गांधीजी को अभिभूत कर दिया। इस अवसर पर उन्होंने कहा, "आज जिस आनंद का मैं अनुभव कर रहा हूँ वैसा इसके पहले कभी नहीं किया था। यद्यपि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ यहां नहीं हैं फिर भी अपने हृदय में हम उनकी उपस्थिति का अनुभव कर रहे हैं। मुझे इस बात से और भी खुशी है कि भारतीय ढंग से आपने स्वागत का आयोजन किया है। बम्बई में बड़ी धूम–धाम से हमारी आवभगत की गई लेकिन उसमें ऐसी कोई चीज नहीं थी जिससे हमें प्रसन्नता होती। क्योंकि वहां पर पाश्चात्य ढंग की बड़ी सावधानी से नकल की गई थी। पूर्व के विधि–विधान को अपना कर ही हम अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर हो सकेंगे, पश्चिमी ढंग को अपनाकर नहीं, क्योंकि हम पूर्व के हैं। भारतवर्ष के सुन्दर रीति–रस्मों और रिवाजों को अपनाकर ही हम अपना विकास कर पाएंगे और उसकी अंतरात्मा के वैशिष्ट्य के अनुरूप भिन्न–भिन्न आदर्शोंवाले राष्ट्रों के साथ मैत्री–संबंध स्थापित कर सकेंगे। ....बंगाल के इस आश्रम के साथ आज मेरा घनिष्ठ संबंध हो गया है। अब मैं आपके लिए अजनबी नहीं रह गया।"4

शांतिनिकेतन में गांधीजी का स्वागत पूर्णरूप से भारतीयता से अनुप्राणित था। रवीन्द्रनाथ ने कलकत्ते से जो पत्र एण्ड्रयूज को लिखा था और उसमें उनके स्वागत की जैसी आशा की थी, उसे आश्रमवासियों ने पूरी तरह निभाया। संभव है 18 फरवरी, 1915 को अपने लिखे पत्र में उन्होंने सबसे पहले गांधीजी के लिए 'महात्मा' शब्द का प्रयोग किया था। उन्होंने लिखा था, "मैं समझता हूँ कि महात्मा और श्रीमती गांधी बोलपुर पहुँच गए हैं और शांतिनिकेतन ने उनकी उपयुक्त अभ्यर्थना की है। उनसे मिलने पर मैं स्वयं अपना व्यक्तिगत स्नेह व्यक्त करूँगा।"5 गांधीजी भी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं, "अध्यापकों और विद्यार्थियों ने अपने स्नेह से मुझे अभिभूत कर दिया। अभ्यर्थना–समारोह सादगी, कला, और स्नेह का एक सुंदर संमिश्रण था।"6

गांधीजी अक्सर ट्रेन के तीसरे दर्जे में यात्रा करते थे। बोलपुर स्टेशन पर जो लोग उन्हें लेने गए थे। वे उन्हें प्रथम और दूसरे दर्जे में खोज रहे थे। उन्हें न पाकर जब वे लोग लौटने को हुए तभी उन्होंने देखा की गांधीजी तीसरे दर्जे के डब्बे से

उतर रहे हैं। वे बहुत ही साधारण पोशाक पहने हुए थे और उनके पैरों में जूतें भी नहीं थे। उस दिन वे स्टेशन से आश्रम तक नंगे पैर पैदल गए थे।

गांधीजी शांतिनिकेतन में शांति से कुछ समय बीताने की आशा से आये थे लेकिन दुर्भाग्यवश 18 फरवरी को तड़के ही गोखले की मृत्यु का तार उन्हें मिला। दिवंगत नेता की याद में उस दिन आश्रम बंद हो गया और एक शोकसभा का आयोजन किया गया। जिसके सभापतित्व करते हुए गांधीजी ने कहा था, "मैं असली जननायक की खोज में निकला था और समूचे भारत में केवल एक को पाया और वह व्यक्ति गोखले थे।"7 उस दिन वे अपनी पत्नी और मगनलाल के साथ पूना के लिए रवाना हो गए।

तीन दिनों बाद (22 फरवरी) को रवीन्द्रनाथ शांतिनिकेतन आए। उनके आने के कई दिनों बाद गांधीजी भी पूना से सीधे शांतिनिकेतन पहुँचे। 6 मार्च, 1915 को वह पुण्य वेला आई, जब दोनों महापुरुषों का प्रथम साक्षात्कार हुआ। दोनों ने बड़ी आत्मीयता से एक दूसरे से मुलाकात की। इसके बाद से ही गांधीजी का वास्तविक कार्यक्रम शांतिनिकेतन में शुरू होता है। वे बहुत जल्दी आश्रम के छात्रों के साथ घुलमिल गए। किसी को ऐसा प्रतीत ही नहीं हुआ कि वे यहां अतिथि हैं। वे आश्रम की परिक्रमा करने लगे। छोटी से छोटी वस्तुओं को बड़ी गम्भीरता से देखने लगे। इन सबके अलावा उनका ध्यान चारों ओर की गंदगी और अव्यवस्थाओं की ओर भी गया। विद्यार्थियों की सेवा में जुटे नौकरों और रसोइयों को भी देखकर उनका मन थोड़ा व्यथित हुआ। रवीन्द्रनाथ यहां आश्रम जीवन का निर्माण कर रहे थे, जिसका आदर्श था– बच्चों को स्वावलंबी बनाना। गांधीजी ने लक्ष्य किया कि जब तक विद्यार्थी अपना काम स्वयं नहीं करते तब तक वे स्वावलंबी कैसे बन सकते हैं ? और बिना स्वावलंबी हुए स्वराज्य कैसे मिल सकता है ? दूसरी तरफ उन्होंने देखा कि आश्रम की पाठशाला और भोजनगृह में हिन्दू समाज के प्रायः सभी रूढ़ि रीति–रिवाजों का पालन किया जाता है। सवर्ण विद्यार्थी आश्रम के अन्य छात्रों के साथ भोजन नहीं करते। वे अपने अभिभावकों द्वारा निर्देशित नियमों के अनुसार जातिगत नियमों का पालन करते हैं। "आश्रम जीवन के इस पहलू ने उन्हें काफी विचलित किया और वे विचार करने लगे कि किस प्रकार इन अव्यवस्थाओं को दूर करके आश्रम–जीवन को अधिक सरल, सहज और स्वावलंबी बनाया जाए।"8 उन्होंने गुरुदेव से विचार–विमर्श किया और गुरुदेव ने उन्हें अपने अनुसार कार्य करने की अनुमति दे दी। इस घटना का बड़ा रोचक वर्णन उन्होंने अपनी आत्मकथा में किया हैं, जो इस प्रकार है, "जैसी

की मेरी आदत है बहुत जल्दी मैं अध्यापकों और विद्यार्थियों से हिलमिल गया और स्वावलंबन की चर्चा उनसे छेड़ दी। मैंने अध्यापकों से कहा कि अगर वे तथा विद्यार्थीगण रसोइये न रखकर स्वयं भोजन बनाने लग जाए तो इससे अध्यापकगण लड़कों को शारीरिक और नैतिक स्वास्थ्य की दृष्टि से रसोईघर को नियंत्रण में रख सकते हैं और विद्यार्थीगण उससे स्वावलंबन की शिक्षा पा सकते है। उनमें से एक या दो तो सिर डुलाकर ना करना चाहते थे लेकिन कुछ ने इस प्रस्ताव का जोरों से समर्थन किया। और कुछ नहीं तो इसके नयेपन के लिए लड़कों ने इसका स्वागत किया। उनमें नयापन के लिए एक सहज रूझान रहती है। अतएव हमलोगों ने इस कार्यक्रम को चालू कर दिया।"9 गांधीजी चाहते थे कि प्रत्येक आश्रमवासी अपना कार्य स्वयं करें और वे किसी दूसरे पर निर्भर न रहे। उनके इस नए प्रयोग से कुछ ही दिनों में शांतिनिकेतन परिष्कृत, सुन्दर और आत्मनिर्भर दिखने लगा। उसी वर्ष 10 मार्च को उन्होंने स्वावलंबन व्रत का प्रवर्तन किया था। वह स्मरणीय दिन आज भी यहां 'गांधी पुण्याह' के नाम से मनाया जाता है। इस दिन पूरे विश्विद्यालय के प्रांगण में सफाई अभियान चलता है।

गुरुदेव की साधना भूमि शांतिनिकेतन गांधीजी का प्रिय स्थान था। दूसरी बार वे यहां 13 सितम्बर 1920 को आए। इस बार वे यहां 13 से 17 सितम्बर तक कुल पांच दिन ठहरे। 17 सितम्बर को उन्होंने जो भाषण दिया था, वह इस प्रकार है, "आपके साथ थोड़े दिन के सहवास का जो आनंद मिला, वह तो अवर्णनीय है। मैं अपनी गिरी हुई तंदुरुस्ती सुधारने यहां आया था और आप को यह जानकर आनंद होगा कि मैं बिलकुल स्वस्थ होकर नहीं, तो भी पहले से काफी अच्छी सेहत लेकर जरुर जाऊंगा। मुझे यह बुरा लग रहा है कि आपके साथ बंगला में बातें नहीं कर सकता। मेरे ख्याल से किसी दिन आपके साथ बंगला में बात करने की मेरी आशा चाहे पूरी न हो, तो भी मेरी यह आशा तो हरगिज अनुचित नहीं कि आप मेरी हिन्दुस्तानी समझ सकेंगे। जब तक आपके स्कूल में हिन्दुस्तानी अनिवार्य विषय न हो जाए और आप उसे सीख न लें, तब तक आपकी शिक्षा सम्पूर्ण नहीं कही जा सकती।"10 गांधीजी खड़ी बोली हिन्दी को हिन्दुस्तानी कहते थे। शांतिनिकेतन में उन्होंने हमेशा हिन्दी में ही भाषण दिया और आश्रम के अन्य लोगों से हिन्दी सीखने के लिए अपील भी की। अपने इसी भाषण में उन्होनें आगे कहा था, "मेरे लिए तो केवल एक धर्म है। वह है हिन्दू धर्म। मैं अपने को हिन्दू कहता हूँ और उसमें गर्व का अनुभव करता हूँ,मगर मैं कोई कट्टर कर्मकाण्डी हिन्दू नहीं हूँ। मैं हिन्दू धर्म को जिस

प्रकार समझता हूँ, तदनुसार वह अत्यंत व्यापक है। उसमें अन्य सब धर्मों के लिए समभाव है। आदर है।"11 आगे उन्होंने अहिंसा पर भी अपनी बातें रखी थी। उनकी दृ ष्टि में, "अहिंसा के मार्ग पर चलनेवाले की सभी तरह कुशल है। अहिंसा के मार्ग पर चलने वाले को जो शस्त्र प्राप्य हैं, वे हिंसामार्गी को मिल सकनेवाले शस्त्रों से अधिक जोरदार हैं।"12 अहिंसा के मार्ग पर चलकर ही व्यक्ति पूरे संसार को अपने वश में कर सकता है।

जैसे–जैसे समय गुजरता गया, गुरुदेव के साथ उनका स्नेह–संबंध बढ़ता गया। 29 मई, 1925 को वे फिर एक बार शांतिनिकेतन आए। इस बार उनकी यात्रा का उद्देश्य राजनीतिक था। एण्ड्रयूज महोदय ने अन्य लोगों के साथ उनका स्वागत किया। शांतिनिकेतन में उन्हें एक फूलों से सजे कमरे में ले जाया गया। उन्होंने गुरुदेव से प्रश्न किया, "नव वधू के इस घर में मुझे क्यों लाया गया है ?"13 गुरुदेव ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया, "हमारे हृदयों की चिरयुवा रानी शांतिनिकेतन आपका स्वागत करती है।"14

इस बार गांधीजी शांतिनिकेतन में तीन दिन ठहरे। गुरुदेव और एण्ड्रयूज से चर्खा एवं खादी कार्यक्रम पर देर तक चर्चा की। चर्खा का महत्व बताते हुए उन्होंने छात्रों से कहा, "मैं तुमसें तुम्हारी कविता, साहित्य या संगीत छोड़ने के लिए नहीं कहता। मैं इतना चाहता हूँ कि इन बातों के साथ तुम प्रतिदिन आधा घंटा चर्खे के लिए दो। अभी तक यह बहाना किसी ने नहीं प्रकट किया कि उसके पास आधा घंटा भी नहीं है। चर्खा हमें अपनी संकीर्णता पर विजय पाने में सहायता करेगा। आज उत्तरी भारत का एक व्यक्ति बंगाल जाता है तो उसे बताना पड़ता है कि वह भारतीय है। अन्य प्रांतों में रहनेवाले बंगाली अपने को विदेशी समझते हैं। इसी तरह, दक्षिण भारतीय विदेशी हो जाते हैं जैसे ही वे उत्तरी भारत में पैर रखते हैं। चर्खा ही केवल एक ऐसा तरीका है जो हम सबको यह अनुभव कराता है कि हम सब एक ही देश की संतान है।"15 आगे उन्होंने खादी पर जोर देते हुए कहा था, "विदेशी कपड़ों का बहिष्कार ऐसी बात है जिसे सब समान रूप से अपना सकते हैं, जिसमें सब समान रूप से अभय योगदान दे सकते हैं। अस्पृश्यता केवल हिन्दुओं को ही आघात पहुँचाती है। हिन्दू और मुसलमानों के बीच के झगड़ें भी कभी न कभी खतम होंगे ही, किन्तु यदि खादी नहीं रहे तो पूरा देश बेहद गरीबी में डूबा रहेगा।"16 चर्खा और खादी गांधीजी के स्वदेशी आंदोलन का एक हिस्सा था। जिसके माध्यम से वे पूरे भारतवासियों को एकता के सूत्र में बाधने का प्रयास कर रहे थे।

 ISSN 2455–4502

1937 में गुरुदेव का स्वास्थ्य अचानक बहुत बिगड़ गया। दो–तीन दिनों तक वे अचेत होकर बिस्तर पर पड़े रहे। उन्हें अहसास हो गया था कि मृत्यु सन्निकट है। अब शरीर छोड़ने का वक्त आ गया है लेकिन उसके पहले वे शांतिनिकेतन का दायित्व एक ऐसे व्यक्ति को सौप देना चाहते थे जो उसकी देखभाल अच्छी तरह कर सके। अपने शिष्यों और सहयोगियों में उन्हें ऐसा कोई नहीं मिला जो इसका भार वहन कर सके। फिर उनका ध्यान गांधीजी की ओर गया। उनको लगा यही वह व्यक्ति है जो उनकी संस्था के संरक्षण और विकास की व्यवस्था कर सकता है।

रवीन्द्रनाथ के अस्वस्थ्य होने की सूचना मिलते ही गांधीजी अपनी पत्नी के साथ 17 फरवरी, 1940 को शांतिनिकेतन पहुँचे। इस बार उनकी यात्रा बिना किसी राजनीतिक उद्देश्य की थी। यही वह वर्ष था जब दोनों की अंतिम मुलाकात हुई। गांधीजी श्यामली में ठहरे थे। आम्रकुंज में उनके लिए एक औपचारिक स्वागत समारोह का आयोजन किया गया था। गुरुदेव ने उन्हें माला पहनाई और स्वागत करते हुए कहा, "मैं आशा करता हूँ कि अपने आश्रम में हम आपका स्वागत करने में प्रेम की मौन अभिव्यक्ति के निकट रह सकेंगे और वाक्यों के आडम्बरपूर्ण प्रदर्शन में बह जाने से बचेंगे। महान पुरुषों के प्रति श्रद्धा निवेदन सहज भाषा में ही अभिव्यक्त होता है और हम ये थोड़े से शब्द आपको यह प्रकट करने के लिए अर्पित कर रहे हैं कि हम आपको सम्पूर्ण मानवता के होने के कारण अपना समझते हैं।"17

गान्धीजी का बोलपुर स्टेशन पर आगमन, १९३५ ई०।

गांधीजी ने हिन्दी में उत्तर देते हुए कहा था, "सबसे पहले मैं एण्ड्रयूज का स्मरण कर रहा हूँ जिन्हें आज सुबह मैं सब कुछ छोड़कर देखने गया था। उनकी उत्कट इच्छा थी कि मुझे और कवि को यहां शांतिनिकेतन में मिलते हुए देख सकें। आज के समारोह में उनकी अनुपस्थिति हमसब को कष्टकर प्रतीत हो रही है। हमें प्रार्थना करनी चाहिए कि वे शीघ्र स्वस्थ हो जाएं और परमात्मा उन्हें शान्ति प्रदान करें। "18 आगे उन्होंने कहा, "यद्यपि मैं इस यात्रा को तीर्थयात्रा समझता हूँ तथापि मुझे यह कहने की अनुमति दें कि यहां मैं आगन्तुक नहीं हूँ। मैं अनुभव करता हूँ जैसे

मैं अपने घर आया होऊँ। इस प्रसंग में आश्रम के प्रारंभिक दिनों की 1915 की याद कर रहा हूँ जब मुझे और मेरे परिवार को आतिथ्य सुलभ किया गया था। ”19 गांधीजी शांतिनिकेतन को अपना दूसरा घर कहते थे। इस बार वे यहां दो दिन ठहरे। यहां के विभिन्न विभागों का दौरा किए और कला–भवन में विशेष रूचि दिखाई। संध्या समय उत्तरायण के प्रांगण में उनकी उपस्थिति में ‘चंडालिका’ नाटक का प्रदर्शन हुआ। अंत में विदा लेने के पूर्व रवीन्द्रनाथ ने गांधीजी को एक पत्र दिया, जिसमें उन्होंने लिखा था, ”और अब, आपके शांतिनिकेतन से विदा होने के पूर्व मैं आपसे अपना आतंरिक निवेदन करता हूँ। इस संस्था को अपने संरक्षण में स्वीकार करें, उसे स्थायित्व आश्वासन प्रदान करें यदि आप उसे राष्ट्रीय संपत्ति समझें। विश्वभारती एक जलपोत के समान है जो मेरे जीवन के सर्वश्रेष्ठ कोश का माल–असबाव लिए जा रहा है और मैं आशा करता हूँ कि मेरे देशवासियों से वह अपने संरक्षण के लिए विशेष ध्यान पाने का दावा कर सकती है।”20 गांधीजी ने इस पत्र के जवाब कहा था, वे जहां भी रहेंगे ‘विश्वभारती’ के संरक्षण के लिए हमेशा तत्पर रहेंगे।

गांधीजी जब कभी शांतिनिकेतन जाते सफाई, रसोई, रोगी की चर्चा आदि से आरम्भ करते हुए, वहां कुछ मूल भूत सुधार लाने का प्रयास करते। 18 दिसम्बर 1945 को वे फिर शांतिनिकेतन आए और यही उनकी अंतिम यात्रा थी। गुरुदेव के दिवंगत होने के बाद यह उनकी पहली संस्थान–यात्रा थी। बंगाल सरकार ने आवश्यकता समझकर उनके लिए एक विशेष ट्रेन का प्रबन्ध कर दिया था। शाम को प्रायः प्रार्थना के समय उनकी ट्रेन बोलपुर स्टेशन पहुँची। स्टेशन से उन्हें सीधे शांतिनिकेतन के प्रार्थना प्रांगण में ले जाया गया जहां सब आश्रमवासी सान्ध्य–प्रार्थना के लिए एकत्र हुए थे। प्रार्थना के बाद गांधीजी ने एक संक्षिप्त भाषण दिया, जिसमें उन्होंने गुरुदेव की तुलना अपने घोसलें में पंख फैलाकर अंडे सेते हुए पक्षी से करते हुए कहा था– ”उनकी बाहों के ऊष्ण संरक्षण में शांतिनिकेतन अपने वर्तमान आकार में विकसित हुआ है। बंगाल उनके गीतों से

शान्तिनिकेतन में महात्माजी का शुभागमन

गुंजरित है। .....हम सब उनकी संरक्षण बाहों के स्नेह से विरहित हो चुके हैं। लेकिन हमें संतप्त न होना चाहिए। अपने शोक का उपचार हमारे अपने ही हाथों में है।"21

शांतिनिकेतन में प्रत्येक बुधवार को आश्रमवासी सम्मिलित प्रार्थना के लिए मंदिर में एकत्र होते थे। गुरुदेव जब तक जीवित रहे, इस अवसर पर अपना साप्ताहिक उपदेश देते रहे। 19 दिसम्बर को यह उपदेश क्षिति बाबू के अनुरोध पर गांधीजी द्वारा दिया गया। उसी दिन दोपहर को उन्होंने दीनबंधु स्मृति चिकित्सालय का शिलान्यास किया। उसके अगले दिन 20 दिसम्बर को उन्होंने कला–भवन में नन्दलाल बोस द्वारा आ योजित कला प्रदर्शनी देखी। उसके बाद वे 'विश्वभारती' के अध्यापकों एवं कर्मचारियों से मिले। उन्होंने देखा कि सामने भीषण समस्या है– आर्थिक समस्या, विद्यार्थियों की समस्या एवं प्रशासन की समस्या। इनमें से कई समस्याओं का उन्होंने समाधान किया। 'सी. एफ. एण्ड्रयूज स्मृति' कोश में कुछ राशि जमा करके आर्थिक समस्या का समाधान किया। आश्रमवासियों को नए सिरे से अग्रसर होने के लिए उत्साहित किया। जब कृष्णा कृपालानी ने उनसे पूछा–"वे लोग नहीं जानते कि उनका लक्ष्य क्या है अथवा वे किस आदर्श की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील है।"22 तब गांधीजी ने आश्रमवासियों से कहा, "आपका आदर्श केवल बंगाल या कि भारत का प्रतिनिधित्व करना नहीं हैं, आपको सारे संसार का प्रतिनिधित्व करना है।.....जब तक आप भारत के जनमानस का प्रतिनिधित्व नहीं करेंगे तब तक आप मानव के रुप में गुरुदेव को प्रतिरूपित नहीं कर पाएंगे। आप गायक, चित्रकार, यहां तक कि महाकवि के रूप में भी उनकी प्रतिष्ठा भले कर लें, परन्तु इससे आप उनके सहज मानवीय रूप का उपस्थापन नहीं कर पाएंगे और ऐसी स्थिति में इतिहास यह कहेगा कि उनका यह संस्थान असफल रहा। मैं नहीं चाहता कि इतिहास यह निर्णय दे।"23

'विश्व–भारती' की स्थापना गुरुदेव के जीवन का सपना था। इसे साकार करने के लिए उन्होंने अनेक कष्ट झेले थे। वे 'विश्व–भारती' को विश्व–संस्कृति का प्रतिष्ठान बनाना चाहते थे। यही कारण है कि अपने जीवन के अंतिम दिनों में वे इसका कार्यभार गांधीजी को सौप देते है। गांधीजी ने भी उनको आश्वासन दिया था कि वे अधिक से अधिक समय 'विश्व–भारती' के लिए निकालने की कोशिश करेंगे। वे 'विश्व–भारती' को अपना दूसरा घर कहते थे। यहां के शांत वातावरण और प्राकृतिक सौन्दर्य से वे बहुत ज्यादा आकर्षित हुए थे। इसके अलवा यहां की साहित्य, संस्कृति, संगीत, नृत्य आदि कलाओं ने भी उन्हें काफी हद तक प्रभावित किया था। वे जहां भी

जाते यहां की स्मृति साथ लिए जाते। शांतिनिकेतन में रहते समय उन्होंने कई नए प्रयोग किए। विद्यार्थियों को स्वावलंबी बनाने के लिए उन्होंने चर्खा और खादी के महत्व को समझाया। विश्वशान्ति की रक्षा के लिए अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया। आश्रम की भावना को विकसित करने के लिए साफ–सफाई पर विशेष ध्यान दिया। यह गांधीजी के प्रयत्नों का ही परिणाम था कि उनकी मृत्यु के बाद 1951 में 'विश्व–भारती' को केन्द्रीय विश्वविद्यालय का दर्जा दिया गया।

सन्दर्भ–सूची

1. मजुमदार, तनुजा, रवीन्द्र खानदान के मुस्लिम वारिस, प्रथम संस्करण, 2011, मानव प्रकाशन, कोलकाता, पृष्ठ संख्या 136
2. तोमर, रामसिंह(सं.), विश्वभारती पत्रिका, जुलाई–सितम्बर 1969, पृष्ठ संख्या, 189
3. उपरोक्त, 192
4. उपरोक्त, 192–193
5. उपरोक्त, 191
6. उपरोक्त, 191
7. उपरोक्त, 193
8. मजुमदार, तनुजा, रवीन्द्र खानदान के मुस्लिम वारिस, प्रथम संस्करण, 2011, मानव प्रकाशन, कोलकाता, पृष्ठ संख्या 140
9. तोमर, रामसिंह(सं.), विश्वभारती पत्रिका, जुलाई–सितम्बर 1969, पृष्ठ संख्या, 194
10. उपरोक्त, 209
11. उपरोक्त, 210
12. उपरोक्त, 211
13. उपरोक्त, 212
14. उपरोक्त, 212
15. उपरोक्त, 212–213
16. उपरोक्त, 213
17. उपरोक्त, 215–216
18. उपरोक्त, 216
19. उपरोक्त, 216
20. उपरोक्त, 217
21. उपरोक्त, 221
22. उपरोक्त, 229–230
23. उपरोक्त, 230

16 WEST KAPTE PARA ROAD
P.O-ATHPUR, DIST-24PGS(N), WEST BENGAL-743128
MOB 9432345604, EMAIL bijaypresi@rediffmail.com

सामाजिक परिवर्तन : एक अध्ययन

प्रियंका शर्मा

ब्रह्माण्ड का कण–कण परिवर्तनशील है। हमारी देह से लेकर हमारे व्यक्तित्व और हमारी आतंरिक स्थिति में भी पल–पल परिवर्तन होता रहता है। यही नियम किसी भी देश की सभ्यता, संस्कृति, समाज एवं वहां के व्यक्तियों पर भी लागू होता है। शायद इसीलिए कहा जाता है कि 'परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत या अपरिवर्तनशील नियम है, तथा मानव समाज में संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक विभिन्नताएं सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक हैं।' स्पष्ट है कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन एक अपरिहार्य प्रक्रिया है तथा किसी भी समाज में होने वाला परिवर्तन उसकी जीवन्तता एवं गतिशीलता का प्रमाण होती है। एक अपरिवर्तनशील समाज प्रायः मृत एवं जड़ ही समझा जाएगा। किसी भी समाज की संरचना और संस्कृति में परिवर्तन उसके बाह्य एवं आंतरिक दोनों रूपों में होता है किन्तु यहाँ महत्वपूर्ण यह नहीं कि परिवर्तन किस प्रकार व किन रूपों में होता है, महत्वपूर्ण है– होने वाले परिवर्तनों की 'गति एवं दिशा'।

लेकिन जब हम भारतीय समाज के संदर्भ में इन परिवर्तनों की गति एवं दिशा का अध्ययन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि यह कितना कठिन एवं दुरूह कार्य है। क्योंकि यहाँ न केवल परम्पराओं की बहुलता है बल्कि इतिहास की जड़ें भी अत्यधिक गहरी हैं। वही सम्पूर्ण भारतीय समाज राष्ट्रवादी आकाँक्षाओं के आन्दोलनों से लिप्त है, जिसके अंतर्गत परिवर्तन एवं आधुनिकीकरण की अवधारणाएं वैचारिक अर्थों से ओत–प्रोत हैं। इस स्थिति में इतना तो अवश्य स्पष्ट होता है कि यहाँ परिवर्तन को सामान्य सामाजिक प्रक्रिया के रूप में तो नहीं देखा जा सकता बल्कि यह एक विचार धारा (संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण) के रूप में परिणित होती प्रतीत होती है। जो अपने आरंभिक स्वरूप में औपनिवेशिक एवं अंग्रेजी शासन का परिणाम है। लगभग इसी संदर्भ में एम.एन. श्रीनिवास जी का कथन है कि "भारतीय समाज एवं संस्कृति में १५० वर्ष से अधिक अंग्रेजी शासन के परिणाम स्वरूप उत्पन हुए परिवर्तन, जिनमें विभिन्न स्तरों ......प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, विचारधारा व मूल्यों में परिवर्तन शामिल है।"

 ISSN 2455–4502

इस बात में कोई संदेह नहीं कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज एवं उसकी संस्कृति में आंतरिक एवं बाह्य दोनों स्तरों पर कई प्रकार के परिवर्तन देखने को मिलते हैं। इतिहासकार रामचंद्र गुहा की पुस्तक 'भारत गाँधी के बाद' आजादी के पश्चात देश में हुए राजनैतिक उथल–पुथल से भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक संरचना में होने वाले व्यापक परिवर्तनों को समझाने का प्रयास करती है। यह पुस्तक ब्रिटिश साम्राज्य के भारत छोड़कर जाने की कहानी के साथ प्रारम्भ होती है। जहाँ देश में अफरा–तफरी का एक दौर समाया हुआ था, जिसमें महात्मा गाँधी की हत्या तक कर दी जाती है। स्वतंत्रता के बदले मिला विभाजन का दंश, और परिणाम स्वरूप भारत व पाकिस्तान से लाखों लोगों का पलायन एवं सांप्रदायिक उन्माद में हत्याओं के दौर के साथ–साथ एक नए भारत का निर्माण किया जा रहा था।वहीं दूसरी ओर रह गए मुस्लिम एवं हिन्दुओं को समझाने का द्वंद भी उपस्थित था। जहां नेहरु एक नायक के रूप में प्रकट होते हैं। जिनकी दूरदृष्टि एवं विद्वता की झलक देश के संविधान बनाने एवं निर्गुट आंदोलनों को सफल करने में दिखलायी पड़ती है। किन्तु चीन के युद्ध के बाद नेहरू युग पुनः एक नए परिवर्तन की ओर अग्रसर होता है।

सत्ता हस्तांतरण अर्थात स्वतंत्रता के पश्चात भारत में सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों का एक दौर चल पड़ा। मनुष्य के आचार–व्यवहार से लेकर उसके रहन–सहन, रीति–रिवाज यहाँ तक की मानवीय संवेदनायें भी इसकी चपेट से बच न सकी। पंचवर्षीय योजनाओं से लेकर नेहरु के समाजवाद ने स्वाधीन भारत को सुनहरे भविष्य के सपने दिखाएँ किन्तु 1960 तक आते–आते ये सपने धूमिल पड़ने लगे। अंततः युद्ध में चीन के हाथों मिली करारी हार ने इन सपनों को चूर–चूर कर दिया। जहाँ एक ओर गाँधी जी के 'समाज में अखण्ड परिवर्तन' की अवधारणा दम तोड़ रही थी तो वही दूसरी और नेहरु का यूटोपिया ध्वस्त होने लगा। समाज में निराशा तथा मोह–भंग की स्थिति पुनः सृजित होने लगी। गाँधी की अहिंसावादी विचारधारा का दम घोटा जाने लगा एवं नैतिक मूल्य टूटने लगे थे। सामन्ती ताकतें फिर से उभरने लगी जिससे शोषण एवं दमन की प्रक्रिया अंग्रेजो के समय से भी अधिक तीव्र हो चली थी जिसने आम आदमी के जीवन–यापन को और भी अधिक दुःखदायी बना दिया। शीत युद्ध, इमरजेंसी, राजनैतिक दलों के गठन, संचार–क्रांति, बाबरी विद्वंस आदि तमाम घटनाओं ने देश के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया। जिससे भारतीय संस्कृति एवं समाज भी अछूता न रहा। वहीं इस नई आर्थिक नीति अथवा उदारीकरण की बयार,

या कह सकते हैं कि इस ग्लोबल विलेज की अवधारणा ने भारतीय समाज एवं इसकी सांस्कृतिक विरासत को उसकी जड़ों से हिला दिया। 'भूमंडलीकरण के इस दौर में भारतीय समाज और इसकी संस्कृति प्रगति की नवीन सीढ़ियाँ चढ़ रही है या अवनति की अंतिम श्वासें गिन रही है।' यह स्वयं में उलझा हुआ किन्तु एक विचारणीय प्रश्न है।

भूमंडलीकरण का सामान्य अर्थ है विश्व का एकीकरण। 90 के बाद का युग वैश्वीकरण का युग है। अर्थात संसार में एक स्थान पर हुई छोटी सी घटना भी सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित करती है। वैश्वीकरण के इस युग में सूचना–प्रौद्योगिकी मशीनों का विकास चरम पर है। जहाँ एक ओर कम्प्यूटर व इंटरनेट ने सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक तथा व्यवसायिक आदि सभी क्षेत्रों को प्रभावित करते हुए विकास के नए आयाम गढ़े हैं। वहीं दूसरी ओर इसी वैश्वीकरण ने स्थानीय संस्कृति, कला, परम्पराओं एवं स्थानीय बाजार के नष्ट होने का डर, आर्थिक स्वाधीनता, नैसर्गिकता के छिनने का डर, पर्यावरण एवं पारिस्थितिकीय संतुलन की चुनौतियाँ, घनिष्ठ प्राथमिक भावनात्मक सामाजिक संबंधो में बिखराव, स्त्री संघर्ष के नए रूपों एवं आर्थिक औपनिवेशीकरण जैसी अनेक समस्याओं को जन्म दिया।

1990 के बाद या कहें कि 20वीं सदी की बदली हुईं परिस्थितियों में वैश्वीकरण एक राजनीतिक या आर्थिक घटना मात्र नहीं थी। बल्कि इसका प्रभाव एशिया वा यूरोप के सभी देशों के सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों पर भी पड़ा। भूमंडलीकरण की आड़ में विकसित देश विकाससील देशों पर मनमानी शर्तें थोप रहे थे, जिससे हमारे समाज के महत्वपूर्ण घटक सर्वाधिक प्रभावित हुए। संभवता इसी कारण हमारे सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्य तीव्र गति से परिवर्तित होने लगे। प्रौद्योगिकी का सबसे अधिक लाभ कॉरपरेट सेक्टर को हुआ। वहीं आर्थिक सुधारों की पैरवी करने वालों का दावा था कि इससे देश के प्रत्येक नागरिक का जीवन स्तर ऊँचा उठेगा, बेरोजगार युवकों को रोजगार का अवसर मिलेगा। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि वैश्वीकरण ने पूरे विश्व को ही बाजार में बदल दिया। कैसी विडम्बना है कि नमक महंगा हो रहा है और मोबाइल सस्ता, नदियाँ प्रदूषित हो रहीं हैं या सूख रहीं हैं, लेकिन कोला–पेप्सी का जहर छलछला रहा है। अतःकह सकते हैं कि वैश्वीकरण की हवा जो बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में चली उसके केंद्र में सिर्फ आर्थिक पहलू ही विराजमान था।किन्तु अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के साथ–साथ सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनैतिक आदि संरचनाओं में भी बड़े परिवर्तन हुए। लेकिन आज

भारत इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर चुका है।जहाँ– सत्य, न्याय, समता, संस्कृति, जनवाद, समाजवाद और मानवतावाद का कोई अर्थ शेष नहीं रह गया।

दरअसल इक्कीसवीं सदी परिवर्तन की सदी है। जहां समाज में नित्य नए परिवर्तन देखने को मिल रहें हैं। जैसे– सिनेमा–मल्टीप्लेक्स में, शैक्षणिक संस्थान–आई. आई. टी. में, बाजार–बाजारवाद में, उपभोक्तावाद–उपभोक्तावादी संस्कृति में, संस्कृति–पॉपसंस्कृति तथा मीडिया–आभासी दुनियाँ अर्थात सोशल मीडिया के रूप में परिवर्तित हो गई है। इस बात में कोई संदेह नहीं कि 21वीं सदी का दौर सभ्यताओं और संस्कृतियों के विचलन का दौर है, जिस कारण जीवन–शैली से समाजिकता का लोप हो रहा है। समाज, संस्कृति, राजनीति, धर्म, मूल्य, मनुष्य कुल मिला कर समूचा माहौल ध्वंस हो रहा है। भौतिकता की अंधी दौड़ में रिश्तों की गर्माहट प्रायः लुप्त हो गई है। शहरों की चकाचौंध से प्रभावित युवा अपनी मानवीय संवेदनाओं को तार–तार करते हुए अपने परिवार से जिस तरह दूर भागने की कोशिश करता है वह आज के जीवन की कड़वी सच्चाई बन गई है। आज बाजारवाद रिश्तों के बीच की रागात्मक्ता को अत्यंत निर्मम और निरंकुश तरीके से कुचलता जा रहा है। वैश्वीकरण के प्रभाव में आज जिस नए समाज की संरचना हुई है, उसमें पूंजीवादी संस्कृति की मिलावट स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है, जहां हम कुछ भी तय कर पाने की स्थिति में नहीं हैं। हां, इतना अवश्य हुआ है कि वर्तमान समय में सुविधाएं बढ़ीं है, लेकिन यह भी सत्य है कि आत्मीयता घटी है।

वास्तविकता यह है कि आज भारतीय समाज संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। सत्ता द्वारा गलाकाट प्रतियोगिता से लेकर बाज़ारी–अर्थव्यवस्था तक ऐसे परिवेश को निर्मित किया गया है कि–जिसमें आज का मनुष्य बुरी तरह से फंस गया है जिस कारण वह नैतिक–अनैतिक सही–गलत, जैसे शब्दों को पीछे छोड़ता हुआ अपराध की अंधी गलियों में उतरता चला जा रहा है। आज 'भूख' समस्या नहीं है, समस्या है जीवन स्तर को ऊँचा उठाने की, घर को महँगी से महँगी और आधुनिक वस्तुओं से सजाने की। शायद यही वजह है कि वर्तमान समय में मध्यम–वर्गीय औरतें भी हेय दृष्टि के कारण कभी सेक्स सिम्बल के रूप में तो कभी फैशन–शो अथवा रोल मॉडल के रूप में तो कभी विज्ञापन के जरिये बाज़ार के बीचो–बीच आ खड़ी हुई हैं। विवाह संस्थाएं अपने मायने खो बैठीहैं। लिवि इन रिलेशन तथा विवाहेत्तर सम्बन्धों ने परिवार को गहरा आघात पहुँचाया है।संस्कृति के व्यवसायीकरण ने आज मनुष्य को पुरातन व पॉप संस्कृति के दोराहे पर लाकर खड़ा कर दिया है।लेकिन वैज्ञानिक एवं

टेक्नॉलजी के इस तीव्र दौर में भी हमारी पुरातन सामाजिक समस्याएं– निर्धनता,बेरोजगारी, जनसंख्या–विस्फोट, साम्प्रदायिकता, आरक्षण–नीति, युवा असंतोष, बाल अपराध, महिलाओं के विरुद्ध हिंसा, निरक्षरता, काला धन और आतंकवाद , स्वतंत्रता के बाद से लेकर आज इक्कीसवी सदी में भी पूर्वत बनी हुई हैं। शायद इसी लिए ग़ालिब कि यह पंक्तियाँ आज भी प्रासंगिक प्रतीत होती हैं "हिंदुस्तान प्रबल झंझावातों और आग की लपटों से घिरा हुआ है, यहाँ के लोग किस नयी व्यवस्था की तरफ उम्मीद और खुशियों से देखे।''

सारांशतः कह सकते हैं कि पश्चिमी संपर्क से पूर्व भारतीय समाज एवं संस्कृति में आमूल–चूल परिवर्तन तो हुए हैं,किन्तु यह आधुनिकता के प्रमुख तत्वों से अप्रभावित रही। पाश्चात्य सम्पर्क विशेषतः अंग्रेजी–राज की स्थापना के बाद भारतीय समाज व इसकी संस्कृति में अनेक दूरगामी परिवर्तन देखने को मिलते है। जैसे–बाल विवाह, विधवा विवाह, भारतीय शिक्षा का स्वरूप एवं आधुनिक सांस्कृतिक संस्थाएं आदि। लेकिन स्वतंत्रता आन्दोलन और उसके बाद भारतीय समाज एक नई राजनैतिक संस्कृति के मार्ग पर प्रशस्त हो रहा था, जिसके केंद्र में महात्मा गाँधी का व्यक्तित्व विद्यमान था। जिनका एक पैर सदैव परम्परा के गहन रूप में धंसा हुआ था। परन्तु स्वातन्त्र्योत्तर भारत में गाँधीवाद एक सम्प्रदाय मात्र बन कर रह गया और वैश्वीकरण के आगमन ने तो मानों भारत में परिवर्तनों का विहंगम वातायन ही खोल दिया हो। जिसने भारतीय समाज एवं इसकी संस्कृति को सकारात्मक कम और नकारात्मक रूप से अधिक प्रभावित किया। परिणाम स्वरूप 21वीं सदी तक आते–आते 'परिवर्तन' अब पारम्परिक–समाज की भांति एक अपवाद रुपी प्रघटना नहीं रह गयी, बल्कि आज यह रोज– मर्रा की ज़िंदगी का सत्य बन गई है, जो न जाने किस सभ्यता, संस्कृति और समाज की ओर अग्रसर है।

मो०– 7745038046
ई० मेल–dr.piku1947@gmail.com

 ISSN 2455–4502

आधुनिक विज्ञान की स्त्रीवादी आलोचनाः सैद्धांतिक आधार

अतुल कुमार मिश्र

Those who promise us paradise on earth never produced anything but a hell.
Karl Popper

दुनिया के इतिहास में आधुनिकता एक ऐसा प्रस्थान बिन्दु है जहां से एक नए तरह के ज्ञान–विज्ञान से जुड़े विभिन्न विमर्शों की शुरुआत होती है। यह एक ऐसा टर्निंग पॉइंट है जो दुनिया को देखने का एक नया नजरिया, एक नई विश्व–दृष्टि निर्मित करता है। अब तक चले आ रहे ज्ञान–विज्ञान–दर्शन के बनिस्बत दुनिया को देखने–समझने का यह नया ढंग ही वह 'आधुनिक–बोध' पैदा करता है जो पूर्व–आधुनिक समाज को आधुनिक समाज से अलगाता है। यह आधुनिक–बोध एक 'खास' किस्म के विज्ञान और वैज्ञानिकता की नींव पर खड़ा था जो इतिहास में इससे पहले इतने व्यवस्थित और इतने ताकतवर रूप में कभी नहीं रहा। आधुनिकता की पूरी प्रक्रिया ही इस नए विज्ञान के बनने और ज्ञानात्मक श्रेष्ठता की सामाजिक मान्यता हासिल करने की प्रक्रिया रही है।

आधुनिकता की पूरी संरचना जो इस नई वैज्ञानिक चेतना के आधार पर खड़ी होती है, दुनिया को इस आधुनिक बोध (वैज्ञानिक बोध) के आधार पर नए सिरे से व्याख्यायित एवं विश्लेषित करती है और इस क्रम में ज्ञान–विज्ञान की विभिन्न संस्थाओं एवं अलग–अलग ज्ञानानुशासनों का बनना इसकी अनिवार्य परिणिति के बतौर सामने आता है। आधुनिकता के साथ वैज्ञानिक चेतना का जो आभामंडल निर्मित हुआ, वह वस्तुनिष्ठता, निरपेक्षता एवं सार्वभौमिकता के अपने दावों के साथ लंबे समय तक सवालों से परे रहा है। कारण यह कि आधुनिक विज्ञान यथार्थ की प्रकृति और वस्तुगत ज्ञान की संभावना पर जैसी रोशनी डालता है, वह इससे पहले इस रूप में कभी संभव नहीं थी। अपनी विशिष्ट प्रविधि (Methodology) के बल पर यह ज्ञान–मीमांसा (Epistemology) में क्रांतिकारी परिवर्तन लाता है और समस्त मानव ज्ञान के लिए एक प्रतिमान प्रस्तुत करता है। मतलब यह कि आधुनिक विज्ञान इसलिए अधिक महत्वपूर्ण साबित होता हुआ दिखता है क्योंकि यह अपनी विशिष्ट वैज्ञानिक प्रविधि के बल पर समूचे ज्ञान, सत्य एवं यथार्थ की 'तथाकथित' वस्तुनिष्ठ,

सार्वभौमिक व निरपेक्ष व्याख्या कर सकने में सक्षम था, लेकिन आधुनिकता के साथ निर्मित वैज्ञानिक चेतना के इस आभामंडल को चुनौती तब मिलती है जब हम उत्तर–आधुनिक विमर्शों के अंतर्गत ज्ञान को एक सतत प्रक्रिया के बतौर अपने समाज और इतिहास का प्रतिफलन मानते हैं, जो जानने वाले (ज्ञाता/कर्ता/knower) की सामाजिक–ऐतिहासिक परिस्थितियों के सापेक्ष होता है। इस प्रकार उत्तर आधुनिकता के अंतर्गत विभिन्न सबाल्टर्न विमर्शों द्वारा अब तक अप्रश्नेय विज्ञान की यह सत्ता पहली बार सवालों के घेरे में आती है। ज्ञान परंपरा पर किसी खास वर्ग/जाति/नस्ल/लिंग के वर्चस्व को चुनौती देते ये नए विमर्श ज्ञान को एक शक्ति के बतौर देखते हुए ज्ञान उत्पादन की तमाम संस्थाओं की वैधानिकता को नकारते हैं और इस प्रक्रिया में आधुनिकता की आधारभूमि के रूप में विकसित आधुनिक विज्ञान (जो वस्तुनिष्ठता, निरपेक्षता एवं सार्वभौमिकता का दावा करता है) स्वयं भी अपनी सत्ता संरचना में पूंजीवादी, यूरोप केन्द्रित, श्वेत वर्णीय, पितृसत्तात्मक एवं पुरुषीय साबित होता है।

उत्तर–आधुनिकता द्वारा की गई आधुनिकता की मुख्य आलोचना यह है कि दरअसल आधुनिकता की पूरी प्रक्रिया ही एक नई आर्थिक व्यवस्था के बतौर पूंजीवाद की वैधता से सम्बंधित मसला था, जहाँ धर्म एवं धार्मिक मूल्यों के नकार पर वैज्ञानिक चेतना के निर्माण की कोशिशें जारी थीं, क्योंकि यह वैज्ञानिक चेतना पूंजीवाद के स्थायित्व एवं विकास के लिए आवश्यक थी और इसीलिए यूरोपीय रेनेसां के दौरान सामंती धार्मिक मूल्यों और पूंजीवादी वैज्ञानिक मूल्यों का संघर्ष, धर्म बनाम विज्ञान के रूप में उभर कर सामने आता है। लेकिन धर्म के स्थानापन्न के रूप में उभरा यह आधुनिक विज्ञान अपनी वस्तुनिष्ठता, निरपेक्षता एवं सार्वभौमिकता के दावों के साथ अंततः अंतिम, प्रमाणिक एवं एकमेव सत्य की उसी परम स्थिति में पहुंचता है, जो धर्म के नाम पर ईश्वर तक पहुंचती थी। इस प्रकार जैसे धर्म अपने नैतिक नियमों एवं मूल्यों के माध्यम से लम्बे समय तक पितृसत्ता को मजबूत करता रहा, वैसे ही विज्ञान भी अपने नियमों एवं सिद्धांतों की आड़ में पितृसत्ता को लगातार बनाये रखने और बढ़ाते रहने की कोशिशें जारी रखता है।

अपने आप में धर्म का मूल एजेंडा ईश्वर को स्थापित करना भले ही नजर आता हो लेकिन उसका असली और छिपा हुआ एजेंडा आचार संहिता को स्थापित कर लोगों के आचार–व्यवहार को तय करना है, जो कि ईश्वरीय कथनों और धार्मिक मूल्यों के नाम पर तर्कातीत, निरपेक्ष, सार्वभौमिक और परम सत्य घोषित किया जाता है। विज्ञान आधुनिकता के साथ नई आचार संहिता गढ़ता है और प्रायोगिक, वस्तुनिष्ठ, सार्वभौमिक एवं वैज्ञानिक सत्य के रूप में धार्मिक मूल्यों पर वैज्ञानिक मूल्यों की विजय और उनके स्थानापन्न के बतौर सामने आता है। किन्तु धर्म और विज्ञान दोनों ही अपनी संरचना में एक खास वर्ग, नस्ल एवं जेंडर के द्वारा एक खास समय

में निर्मित हुए थे और दोनों का ही घोषित उद्देश्य यद्यपि मनुष्य मात्र का कल्याण एवं विकास था लेकिन इन घोषित उद्देश्यों के पीछे सत्ता–संरचना में अन्तर्निहित कुछ अघोषित लक्ष्य भी थे। नारीवादी परिप्रेक्ष्य से कहें तो 'ईश्वरीय सत्य' एवं 'वैज्ञानिक ज्ञान' दोनों ही पुरुष के नजरिये से पुरुष का देखा हुआ 'यथार्थ' था और स्त्री का 'सच' इस पूरे परिदृश्य से बाहर था। चूँकि ज्ञान–विज्ञान की धारणाएं और उनका विकास सामाजिक संरचनाओं से मुक्त नहीं हो सकता और स्त्री–पुरुष के बीच जेंडर विभाजन पर आधारित स्त्री पर पुरुष की सत्ता लगातार बरकरार रही है, इसलिए नारीवादी चिंतक एवलेन फॉक्स केलर के शब्दों में तथाकथित निरपेक्ष आधुनिक विज्ञान जन्म के साथ ही पुरुष के पक्ष में जेंडराइज्ड विज्ञान रहा, जिसे वे ''मैस्कुलिन साइंस'' कहती हैं और जो सामाजिक संरचना में अंतर्व्याप्त विश्वासों (system of beliefs) से जन्मता है और ये विश्वास उस सांस्कृतिक बनावट का हिस्सा होते हैं, जो भाषा, विचार एवं परिवेश से किसी मनुष्य को गढ़ती है। इस प्रकार सामाजिक संरचना में पुरुष की श्रेष्ठता जहाँ धर्म के अंतर्गत ईश्वर को पुरुष साबित करती है तो वहीं विज्ञान भी वस्तुनिष्ठ होने के कारण पुरुषीय सिद्ध होता है, लेकिन धर्म जहाँ ईश्वरीय दंड विधान के भय पर अपनी आचार संहिता आरोपित करता है, वहीं विज्ञान के जेंडराइजेशन का आधार सिर्फ वे तरीके नहीं हैं, जिन्हें वह प्रयोग करता है, बल्कि 'यथार्थ' की वे व्याख्याएं हैं जो विज्ञान देता है और जिसके साथ वैज्ञानिक की निर्मिति का घनिष्ठ अंतर्संबंध होता है।

विज्ञान दुनिया को समझने के क्रम में उसे दो भागों में बांटता है – पहला knower यानि ज्ञाता/कर्ता (mind) और दूसरा known यानि जानने योग्य (nature)। स्वयं को ज्ञाता की स्थिति में रखते हुए वह प्रकृति को जाने जा सकने वाले एक 'ऑब्जेक्ट' की तरह देखता है। प्रकृति एक स्त्री है, जिसके रहस्यों (नियमों) को जानना विज्ञान (पुरुष) का अधिकार है ताकि उस पर नियंत्रण कायम किया जा सके। प्रकृति और विज्ञान के बीच का यह सम्बन्ध स्त्री–पुरुष के पारंपरिक संबंधों की तरह ही है, जहाँ प्रकृति नियंत्रित एवं विज्ञान नियंत्रक की भूमिका में है और यह पितृसत्ता की मजबूती के साथ लगातार और भी मजबूत हुआ है।

आधुनिक विज्ञान की स्त्रीवादी आलोचना knower और known के आधार पर बंटे प्रकृति बनाम पुरुष के संबंधों की इस बाइनरी के खिलाफ ही विकसित होती है और इसका मुख्य तर्क यह है कि समता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व के आधुनिक मूल्यबोध के साथ जो आधुनिक विज्ञान जन्म लेता है, वह अपनी निर्मिति एवं विकास–प्रक्रिया में ही नहीं बल्कि अपनी चेतना में ही इन मूल्यों के प्रति अंतर्विरोधी है क्योंकि विज्ञान की मूल चेतना में निहित श्रेष्ठताबोध और एकमेव वैज्ञानिक सत्य का आग्रह विज्ञान के बरक्स जो भी गैर–विज्ञान है (या इस खांचे में डाल दिया गया है), उसके प्रति न तो समता व बंधुता का भाव रखता है और न ही उसके बचे रहने अर्थात उसकी स्वतंत्रता

का हिमायती है। विज्ञान के लिये सत्य मूलतः एक ही है और वह है वैज्ञानिक सत्य। यह वैज्ञानिक सत्य 'सार्वभौमिक' भी है और 'निरपेक्ष' भी और इस वैज्ञानिक सत्य की प्राप्ति का एक ही जरिया है – ज्ञान प्राप्ति की वैज्ञानिक प्रविधि। इस वैज्ञानिक प्रविधि के बिना हासिल कोई भी ज्ञान आनुभविक सत्य तो हो सकता है किंतु वैज्ञानिक सत्य (अर्थात सार्वभौमिक सत्य) नहीं होगा और चूंकि वैज्ञानिक सत्य सार्वभौमिक (और इसलिये श्रेष्ठ भी) है, ऐसे में अज्ञान के अंधेरे में डूबी पूरी दुनिया तक इस वैज्ञानिक सत्य की रोशनी को वैज्ञानिक चेतना संपन्न लोगों द्वारा पहुंचाया जाना चाहिए। वैज्ञानिक ज्ञान व सत्य के श्रेष्ठताबोध पर आधारित इस पूरी अवधारणा में धर्मयुद्धों के अगले चरण में साम्राज्यवाद को एक नये रूप में सामने आते हुए आसानी से चिन्हित किया जा सकता है। यही कारण है कि स्त्रीवादी सिद्धांतकार सैंड्रा हार्डिंग इस आधुनिक विज्ञान को यूरोपियन साम्राज्य विस्तार का ही एक औजार मानती हैं और इसमें निहित सार्वभौमिकता एवं वस्तुनिष्ठता के वैज्ञानिक आग्रहों को सांस्कृतिक आधारों पर चुनौती देते हुए वैज्ञानिक 'ऑब्जेक्टिविटी' के बरक्स 'स्ट्रांग ऑब्जेक्टिविटी' की अवधारणा देती हैं।

सब्जेक्टिविटी बनाम ऑब्जेक्टिविटी की बहस विज्ञान की स्त्रीवादी आलोचना का एक प्रमुख आधार है क्योंकि ऑब्जेक्टिविटी के नाम पर ही आधुनिक विज्ञान पूरी दुनिया में अपनी सत्ता को वैधता दिलवाता है। इसलिये केलर जब यह सवाल उठाती हैं कि कहीं ऑब्जेक्टिविटी पुरुष वर्चस्व का कोडवर्ड तो नहीं है? तो इसके पीछे ऑब्जेक्टिव विज्ञान के नाम पर पुरुष वर्चस्व को वैध ठहराती और उसे पुख्ता बनाती वे तथाकथित वैज्ञानिक धारणाएं ही होती हैं जो आगे चलकर गलत साबित हुईं। इसीलिये हार्डिंग 'स्ट्रांग ऑब्जेक्टिविटी' की बात करती हैं क्योंकि अगर ऑब्जेक्टिविटी के सचेतन आग्रहों के बावजूद विज्ञान द्वारा हासिल/निर्मित ज्ञान एकपक्षीय साबित हुआ तो इस एकपक्षीय ज्ञान के दूसरे पक्ष को सामने लाने के लिये सिर्फ ऑब्जेक्टिविटी से काम नहीं चलने वाला, इसके लिये 'स्ट्रांग ऑब्जेक्टिविटी' की जरूरत होगी। यह 'स्ट्रांग ऑब्जेक्टिविटी' दरअसल पक्षधर ऑब्जेक्टिविटी है जिसके जरिये ऑब्जेक्टिव विज्ञान द्वारा हासिल (निर्मित) एकपक्षीय ज्ञान के छूटे हुए दूसरे पक्ष को सामने लाये जाने की जरूरत है। निश्चय ही यह प्रक्रिया ज्ञान को, सत्य को और अंततः इस दुनिया को थोड़ा और मुकम्मल बनाने की एक कोशिश भी है।

विज्ञान की स्त्रीवादी आलोचना मूलतः उन बाइनरीज (द्विविभाजनों) को अपने विश्लेषण का आधार बनाती है जो knower (ज्ञाता/पुरुष) और known (ज्ञेय/प्रकृति) की वर्चस्वमूलक बाइनरी के बाईप्रोडक्ट के बतौर सामने आते हैं और स्त्री व पुरुष मूल्यों के रूप में रूढ़ बना दिये जाते हैं। सब्जेक्टिव/ऑब्जेक्टिव, माइंड/नेचर, पब्लिक/पर्सनल और रेशनल/इमोशनल जैसे खांचों का बनना और फिर इन

बने–बनाए खांचों के आधार पर विज्ञान की दुनिया से स्त्री–मूल्यों को अभिव्यक्त करने वाली प्रवृत्तियों का बहिष्करण, यह दोनों ही विज्ञान की स्त्रीवादी आलोचना के लिये विश्लेषण के विषय हैं। स्पष्ट है कि यह दो अलग–अलग धाराएँ हैं, एक वह जो इन बाइनरीज के बनने में ही वर्चस्वता के तत्वों की पड़ताल करती है और दूसरी जो इन बाइनरीज में ज्ञान–विज्ञान के विकास के साथ स्त्री–मूल्यों से मनुष्य के अलगाव को समस्यामूलक मानती है। हालांकि दोनों का ही उद्देश्य इन फिक्स्ड बाइनरीज के दायरों को तोड़ना है ताकि इसमें निहित वर्चस्व के सत्तात्मक संबंधों से मुक्त हुआ जा सके, लेकिन इसके तरीके क्या होंगे, इसे लेकर विभिन्न सिद्धांतकारों में पर्याप्त मत–भिन्नता है।

डोना हारवे इसके लिये उच्च तकनीकी आधारित समाज और उसमें विकसित नये हाइटेक कल्चर को एक उम्मीद की तरह देखती हैं तो कैरोलिन मर्चेंट और वंदना शिवा के लिये प्रकृति की ओर वापसी ही इसका अंतिम समाधान है। दूसरी तरफ हेलेन लॉन्गिनो 'नारीवादी विज्ञान' की अवधारणा देती हैं जिसमें वर्तमान आधुनिक विज्ञान को 'डि–कंस्ट्रक्ट' करने और उससे 'अनलर्न' होने की प्रक्रिया में वर्चस्वशाली सत्ता–संरचना से मुक्त एक नये तरह के वैकल्पिक एवं रचनात्मक विज्ञान को रचे–गढ़े जाने की बात है। जबकि केलर विज्ञान के पुरुषीय जगत में ज्यादा से ज्यादा संख्या में महिलाओं के प्रवेश को विज्ञान की सत्ता–संरचना में निहित पितृसत्तात्मक एवं पुरुषीय वर्चस्व से मुक्ति की अनिवार्य शर्त के रूप में देखती हैं। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि आपस में पर्याप्त मत–भिन्नताओं के बावजूद विज्ञान–आलोचना के अलग–अलग नजरियों को एक–दूसरे के विरोधी की तरह नहीं, बल्कि विज्ञान की वर्चस्वमूलक सत्ता–संरचना के खिलाफ एक–दूसरे के पूरक की तरह ही देखा जाना चाहिए क्योंकि अलग–अलग सैद्धांतिक फ्रेमवर्क में विकसित अपने विश्लेषण व अपनी व्याख्याओं में मत–भिन्नताओं के बावजूद कम से कम दो बिंदुओं पर वे एकमत हैं – एक तो यह कि आधुनिक विज्ञान वर्चस्वमूलक है और दूसरा यह कि विज्ञान में निहित इस वर्चस्वता से मुक्ति संभव है।

संदर्भग्रंथ

Haraway, Donna. (1991). Simians, CyborgsAnd Women. New York: Routledge.

Harding, Sandra. (1991).Whose science, Whose knowledge? New York: Cornell University Press.

Keller, Evelyn Fox. (1985). Reflections on GenderAnd Science. New HavenAnd London: Yale University Press.

Longino, Helen E. (1987). Can There BeA Feminist Science? Hypatia.2 (3):51–64.

Shiva, Vandana. (1988). StayingAlive. New Delhi: Kali for women.

 ISSN 2455–4502

सिन्हा, रवि. (2001).अक्तूबर–दिसंबर). आधुनिकता और आधुनिकताएं. *संधान.* (सं लाल बहादुर वर्मा, सुभाष गाताड़े) अंक–3

(फरवरी, 2004) वैज्ञानिक चेतना और हमारा समाज. समयान्तर. (विशेषांक, सं पंकज बिष्ट).

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

ईमेल : atulmishra.mediagroup@gmail.com

संपर्क : 9011875069

लोक साहित्य का वर्गीय एवं पितृसत्तात्मक चरित्र

राहुल

हम सब स्मृतियों से बने लोग हैं– शिवेंद्र

अपने व्यापक अर्थों में लोक प्रत्यक्षदर्शी–प्रत्यक्ष जीवन का संचयन है। इस संदर्भ में लोक संस्कृति को एक आम सहमति की धारणा के रूप में देखना प्रकार्यवादी (Factionist) व्याख्या का उदहारण है। सम्प्रदाय की संस्कृति के बारे में यह मान्यता है कि यह समजातीय व समतावादी है, जबकि लोक संस्कृति सम्प्रदाय के एकीकरण को प्रतिविम्बित करती है जो इसके सांस्कृतिक मूल्यों, नियमों एवं सामजिक संरचना के रूप में एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी तक पहुंचती हैं। इस संदर्भ में यह कहना अतिश्योक्ति न होगा कि लोक साहित्य हमारे बीच मुख्यतः स्त्रियों के माध्यम से ही पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होता आया है, या अभी तक लोक साहित्य जितना भी शेष है उस शेष में स्त्रियों का अहम योगदान है। भले ही सांस्कृतिक रक्षा की जिम्मेदारी को पुरुष अपना कर्तव्य और अधिकार समझते हों, लेकिन परम्पराओं व रीति–रिवाजों की वाहक वाली भूमिका स्त्रियां ही निभाती आई हैं। दूसरे अर्थों में– पितृसत्ता ने परंपरा के नाम पर यह जिम्मेदारी स्त्रियों के हिस्से सौंपी है जिसका वे निर्वहन करती हैं।

निर्वहन की इस पूरी प्रक्रिया में स्त्रियां लोक की उस सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक परंपराओं से इत्तेफाक नहीं रखती (खिलाफ, विरोध दर्ज नहीं करती हैं) जो उनके लिए शोषक की भूमिका में है और उनकी स्थिति के लिए जिम्मेदार है। चूँकि लोक के सामाजिक संरचना में वे सभी तत्व मौजूद है जिससे वर्गीय, जातीय एवं पितृसत्तात्मक समाज का निर्माण होता है, इसलिए लोक साहित्य भी इससे अछूता नहीं है। यह अलग बात है कि लोक साहित्य अलिखित होने से साहित्य के उस रूप में नहीं है जो ज्ञान को लिखित परंपरा में अभिव्यक्त करता है। प्रायः यह मान कर

ISSN 2455–4502

चला जाता है कि वे लोग जो प्रधानतया अक्षर ज्ञान से वंचित है, अनिवार्यतः निम्न स्तर के स्वामी हैं, उनके लिए प्रायः उपयोग में लाया जाने वाला शब्द निरक्षर न सिर्फ लिखने पढ़ने की अक्षमता बतलाता है बल्कि, उसका आशय ज्ञान एवं संस्कृति के सामान्य अभाव से भी है। लिखित ज्ञान परंपरा के बारे में प्लेटो कहते हैं– यह आविष्कार (अक्षरों का) उन लोगों के अंदर भूलने की प्रवित्ति विकसित करेगा जो इसका उपयोग करेंगे, क्योंकि तब वे अपनी स्मृति को काम में नहीं लेंगे। बाहरी चरित्रों द्वारा, जो स्वयं उनके भाग नहीं है, लेखन में उत्पन्न किया गया विश्वास, उनके स्वयं के भीतर स्थिति स्मरण शक्ति के प्रयोग को हतोत्साहित करेगा। तुमने याद दिलाने के एक संनिष्कर्ष का आविष्कार किया है, स्मृति के संनिष्कर्ष का नहीं। *(निरक्षर जन का सांस्कृतिक स्तर, इंद्र देव, अनु। हेमेन्द्र चंडालिया, लोक, सं।पीयूष दईया, पृष्ठ 352)* लिखित ज्ञान भी एक वर्ग बनाता है जिस वर्ग में स्त्रियां और सबाल्टर्न समुदाय (subaltern society) शामिल नहीं हैं।

इस संदर्भ में लोक का महिमा मंडन सामाजिक सांस्कृतिक सद्भावना के साथ किया गया है। जबकि सामाजिक आर्थिक धरातल पर यह संभव नहीं है। इतिहास की भौतिक अवधारणा के अनुसार वास्तविक जीवन में उत्पादन और पुनरोत्पादन ही अततः इतिहास के निर्णायक तत्व हैं जो समाज के भौतिक आधार में हुए परिवर्तनों को आर्थिक इतिहासज्ञ पदार्थ विज्ञान की भांति सही–सही जांच सकता है (स्पष्ट ही इसका मतलब यह नहीं है कि इन परिवर्तनों का वैज्ञानिक रूप से निर्धारण होता है), किन्तु इसके ऊपरी सामाजिक तथा आध्यात्मिक ढांचे में हो रहे परिवर्तनों की ऐसी कोई वैज्ञानिक नापतौल नहीं की जा सकती। परिवर्तन होते हैं, लोगों को उनका बोध होता है, नये और पुराने के बीच द्वंद्व का वे अपने दिमागों में 'निबटारा' करते हैं। *(रैल्फ फॉक्स, उपन्यास और लोक जीवन पृष्ठ 19)*। परिवर्तन का यह बोध जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन के तरीके सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक जीवन की समूची प्रक्रिया को निर्धारित करते हैं। लोगों की चेतना उनके समूचे अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती है, बल्कि इसके विपरीत सामाजिक अस्तित्व ही उनकी चेतना को निर्धारित करता है। और यही चेतना सत्ता की नियंता है। और ये सारे तत्व लोक साहित्य को निर्धारित करते हैं। कबीलाई समाज के बाद जब निजी संपत्ति का प्रभाव बढ़ने लगा और वर्गहीन समाज वर्ग में तब्दील होता गया तो इसके एवज में जिस लोक का जन्म हुआ वह वर्गहीन नहीं था। भारत के संदर्भ में इसमें जाति भी शामिल रही।

लोक संस्कृति का प्रकार्यवादी दृष्टिकोण गल्प नहीं है और न ही पारंपरिक समाजों में आंतरिक रूप से सद्भावना रही हो, जैसा कि हमेशा से माना गया है। उन समाजों में जिन्हें हम वर्ग समाज नहीं कह सकते वहाँ भी समुदाय, जेंडर, आय, संताप व नातेदारी के रूप में विभाजित थी। इन समूहों में पदानुक्रमणिक (Hierarchy) संबंध था, जिसमें अधीन व प्रभावशाली दोनों थे। (*The Myth of Matriarchy: Why Men Rule in Primitive Society P.267*)। वर्तमान समय में भी इस प्रकार के समुदाय मौखिक परंपरा के रूप में अभी भी अस्तित्व में हैं। इस विश्लेषण से हम यह मान सकते हैं कि लोक प्रभावशाली लोगों के लिए अधीन लोगों के अर्थ से अलग हो सकता है या होता है। इस तरह लोक साहित्य प्रतिवाद/विवाद का एक उपकरण है जो सत्ताधारियों के खिलाफ उन पर प्रश्न करने व सवाल उठाने, उपहास बनाने में अहम भूमिका निभाता है। इस तरह लोक का संघर्ष हर उस जगह होता है जहाँ प्रभुत्व का संबंध होता है। प्रभुत्व का महत्त्व नस्ल, जाति, जेंडर व वर्ग के राजनीतिक व आर्थिक हालातों पर निर्भर करता है, जिसे संस्कृति और धर्म से जोड़कर तर्कसंगत बनाया जाता है। संबंधों के इस पड़ताल को स्त्री–पुरुष के यौनिक संबंध में भी देखा जा सकता है।

इस संबंध में लम्बार्ड स्त्रैनी (lambardi Satriani) ने लिखा है– 'सेक्स के मध्य संबंध सबसे स्पष्ट उदहारण है जहाँ महिलाएं स्पष्ट रूप से निम्न प्राणी (हीन) की भूमिका मान लेती हैं। स्त्रियों में यह हीनता भाव पितृसत्तात्मक विचारधारा के प्रभावी होने की वजह से है। स्त्रियों के संदर्भ में वर्गीय संरचना का दूसरा पक्ष पुरुषों को संस्कृति का रक्षक मानने से है जहाँ स्त्रियां स्वयं सर्वहारा वर्ग का निर्माण कर ऐतिहासिक रूप से शोषित वर्ग में आ जाती हैं। लेकिन इस प्रभुत्व संबंध के बावजूद लोक में विरोध स्पष्ट प्रतिविम्बित होता है। यह अलग बात है कि प्रतिरोध का यह प्रतिविम्बन बहुत ही मुश्किल रूप से दीखता है। यानी लोक में यह दुर्लभ रूप से दिखता है। लाम्बाड़ आगे कहते हैं कि ऐसा बहुत कम होता है कि हम जब भी देखते हैं शोषकों के मूल्य को लोक में पाते हैं। (*lambardi Satriani, FolkloreAs culture of contestation. P.156*)

लोक के इस संरचना में स्त्री–पुरुष संबंधों पर ऐली निनोला (Aili Nenola) कहती हैं– अधिकांशतः पुरुष महिलाओं को लोक मूल्यों का प्रतिविम्बन मानते हैं जो कि पितृसत्तात्मक विचारधारा का एक सामान्य दृष्टिकोण है। इस संदर्भ में वह प्रश्न

करती हैं कि लोक में महिलाओं की संस्कृति प्रत्यक्ष रूप से क्यों नहीं दिखती? वे प्रभुत्व व अधीनता के किन संबंधों में जीती हैं। इस पर कोई सवाल नहीं करता। कोई यह मान सकता है कि विरोध भी लोक के प्रयोग की संभाव्यता रोजमर्रा के जीवन में दिखाने वाली प्रभुत्वशाली एवं अधीनता के मध्य दिखने वाली दूरी के अनुपातिक होती है और यह अनुपात लोक जीवन में भी बरकरार है। (*Gender,CultureAnd folklore.A*ili Nenola) लेकिन सवाल यह है कि लोक साहित्य में यह मूल्य बोध ही गायब है। प्रभुत्व एवं वर्चस्व की राजीनीति के प्रति लोक में कोई जागरूकता नहीं है, बल्कि इसके प्रति जागरूकता को देंखे तो यह पाएंगे कि अधीनों (सर्वहारा) का जो भी है लोक है और उसमें भी पुरुषों का ही वर्चस्व है। स्त्रियां इसके प्रभुत्व को नहीं पहचान पाती हैं, क्योंकि वे इसे परंपरा, संस्कृति से जोड़कर देखती है और ईश्वर का दिया हुआ मानती हैं। अगर कोई स्त्री वर्गीय, जातीय एवं पितृसत्ता के इस सत्ता–संरचना को समझ जाती है तो भी उसके लिए पुरुषों के खिलाफ खड़ा होना ईश्वर के खिलाफ खड़े होने से अधिक जटिल होता है।

लोक के इसी संदर्भ में जहां स्त्री को स्त्री के खिलाफ खड़ा किया गया है के बारे में बेट्टी एस□बी□ड्रिंच (Bette S.B. Drinch)– ने बाल्कन के विकास समुदायों का अध्ययन किया है जिसमें उन्होंने विस्तारित गृहस्थ जीवन और परिवार के केंद्र में मूल आर्थिक इकाई को शामिल किया है, जिससे पारिवारिक सत्ता–संरचना का नेतृत्व व सहायक नेतृत्व का बोध होता है। पारिवारिक सत्ता संरचना को समझने के लिए गीतों का सहारा लिया गया है। बहुत सारे स्त्रियों के गीतों में परिवार की महिलाओं– सास, बहू, ननद के मध्य नकारात्मक वर्णन मिलते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो अन्य महिलाओं को शोषक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यानी स्त्री को ही स्त्री का शत्रु दिखाया गया है। शोषण की यह व्यवस्था पितृसत्तात्मक समाज में ठीक वैसे ही है जैसे वर्ग व्यवस्था में शोषितों को आपस में लड़वाकर एक होने से रोके रखा है। लेकिन वहीं कुछ अन्य उदाहरणों में नकारात्मक अनुभव व उत्पीड़न ने वास्तव में महिलाओं में एकता स्थापित करने में मदद की। लोकगीतों की पूरी रचना प्रक्रिया व गायन से गुजरते हुए स्त्रियां यह जानती हैं कि उनके प्रति होने वाला उत्पीड़न पारिवारिक–सामाजिक मूल्यों की वजह से और वे इसको सहने के लिए विवश हैं। उनका पति भी न चाहते हुए सामाजिक मर्यादाओं यानी पितृसत्तात्मक सिद्धांत व विचार उसे इस तरह के कठोर व्यवहार करने के लिए मजबूर करते हैं। यह समाज की जड़ता ही है जहाँ स्त्रियों के लिए अलग नैतिक मापदंड हैं और पुरूषों के लिए

अलग। पुरुषों के लिए जो सहज सुलभ है, वही स्त्री के लिए मुश्किल, कठिन व दुर्लभ अपराध है। लोक साहित्य में पुरुष मजबूत व ताकतवर दीखता है। सामाजिक व नैतिक रूप से उन्हें कोई मलाल नहीं होता, क्योंकि लोक में पुरुषों की एजेन्सी बहुत ही ताकतवर है।

इन सभी को सत्य एवं स्थापित करने के लिए मिथकों का सहारा लिया जाता है। मिथक यह बताने के लिए कि प्राचीन समाज में भी महिलाओं द्वारा शोषण होता था। पार्वती, राधा, सीता आादि मिथकिय पात्रों के माध्यम से इसे स्थापीत किया जाता रहा है। पितृसत्ता का उदय विवाह नामक संस्था के साथ यौनिक संबंधों में शुद्धता बोध के एवज में हुआ। हांलाकि मातृवंशीय समाज में स्त्री का अधिकार प्राकृतिक नियम पर आधारित था। इस अधिकार में न केवल नातेदारी व संपत्ति का हस्तांतरण था बल्कि परिवारों की प्रमुख भी स्त्री थी। नीजी संपत्ति के उदय के फलस्वरूप पितृत्व पर बल दिया गया जो मातृवंश के विरोध में था। जॉन बॉम बर्जर लिखते हैं (Joan Bam berger)–मिथ लगातार यह दोहराते रहते हैं कि स्त्रियों के पास जब सत्ता होती है तो उन्हें यह नहीं पता होता है कि इसे कैसे संभालना है। इस तरह की कहानियों को तब तक उचित बताया गया जब तक महिलाओं ने इस मिथ को स्वीकार नहीं कर लिया। महिलाओं का शासन उन्हें भविष्य में उचित स्थान देने के बजाय अतीत की अनेक असफलताओं की याद दिलाता है। (Joan Bam berger "The Myth of Matriarchy: Why Men Rule in Primitive Society)

मार्था वेग्ले (Martha Weigle) देवी की प्रतिमा को संदर्भित कर उसे उदहारण स्वरुप प्रस्तुत करने के पक्ष में नहीं हैं। वे कहती हैं कि जो देवियां हमारे सामने हैं वह विभिन्न समय में पुरुषों द्वारा परिभाषित की गई हैं। इस तरह के प्रतीक कई बार अधिक खतरनाक होते हैं, वनिस्पत प्राथमिक निर्माता व सांस्कृतिक नायिकाओं के। इस संदर्भ में हम देखें तो स्त्री शक्ति व मातृवंशीय मिथ को लोक संस्कृति के रूप में वर्गीकृति किया जा सकता है, जो अभी तक पितृसत्ता को उचित ठहरती आयी है। पुरुष केन्द्रित संस्कृति जो कि पितृसत्ता पर आधारित होती है में एक स्त्रेण प्रति संस्कृति की छवि उभरती है। पुरुषों के व्यवाहर व स्त्रियों के एकजुटता पर जोर देकर यह प्रति–संस्कृति उनके अस्तित्व को व्यक्त करती है। इसलिए लोक का महिमामंडन करने के बजाय लोक समाजों की अंतः चेतना में निहित वर्गीय, जातीय एवं जेंडरगत अध्ययन जरूरी है।

ISSN 2455–4502

संदर्भ सूची

- *Bam berger Joan 1974: "The Myth of Matriarchy: Why Men Rule in Primitive Society" in Michelle Zimbalist RosaldoAnd Louise Lamphere (eds), Woman, Culture,And Society. Stanford, 263A280.*
- *Denich, Bette S. 1974: "SexAnd Power in the Balkans", in Michele Zimbalist RosaldoAnd Louise Lamphere (eds.), Woman, Culture,And Society. Stanford, 243A262*
- *Jordan, RosanA.And Kalcik, Susan J. (eds), 1985: Women's Folklore, Women's Culture. Philadelphia.*
- *Lombardi Satriani, Luigi 1974: "FolkloreAs Culture of Contestation". In Journal of the Folklore Institute, Vol. XI, Number 1/2. The Hague, 99A121*
- *Lewis, Mary Ellen B. 1974: "The Feminists have done it:Applied Folklore", in Journal ofAmerican Folklore, Vol. 87, No. 343.*
- *रैल्फ, फॉक्स (2008) उपन्यास और लोक जीवन दिल्ली:पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस*
- *एगेल्स, फेडरिक। (2010) परिवार, व्यक्ति संपत्तिगत और राज्य की उत्पत्ति। दिल्ली: ग्रन्थ शिल्पी*
- *https://www.coursehero.com/file/11810130/1Ninola/*

शोधार्थी (स्त्री अध्ययन विभाग)
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
rahul.or.nishant@gmail.com

कृष्णा सोबती की साहित्यिक दुनिया का सामाजिक यथार्थ

मनोज कुमार गुप्ता

पुस्तक– कृष्णा सोबती का साहित्य और समाज
लेखिका– डॉ. कायनात काजी
प्रकाशक– निखिल पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यटर्स, आगरा
प्रकाशन वर्ष– 2016, प्रथम संस्करण
मूल्य – रू 800
पृष्ठ सं.– 250

हालिया साहित्य जगत में कुछ सार्थक पन्नों के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हुए डॉ. कायनात काजी की पुस्तक 'कृष्णा सोबती का साहित्य और समाज' चर्चा में है। यह डॉ. काजी द्वारा स्त्री चेतना की प्रखरतम प्रवक्ता के रचना संसार और उसकी जीवंतता को व्यापक क्षितिज पर लाने की बेहतर कोशिश है। यह पुस्तक न सिर्फ कृष्णा सोबती जी के जीवन या उनकी रचना की समीक्षा भर है बल्कि युवा लेखिका के गहन एवं गंभीर शोध का परिणाम है। यह विदित है कि किसी कवि, कथाकार, समीक्षक अथवा चिंतक के लेखन पर उसके समकालीन सामाजिक–सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों की झलक कहीं न कहीं जरूर पड़ती है। 'सिक्का बदल गया' जैसी कहानियों से शुरू हो रही उनकी लेखकीय यात्रा स्पष्ट रूप से उनके अपने समय और समाज के प्रति प्रतिबद्धता दर्शाती है। भले ही कृष्णा जी का लेखन कुछ विवादित रहा हो पर असलियत यह है कि उनके पात्रों में अदर्शवाद से कहीं अधिक यथार्थवाद की झलक मिलती है। संभवतः स्त्री लेखन की ऐसी व्याख्या यथार्थवादी युवा लेखिका द्वारा ही की जा सकती है। इस पुस्तक के हवाले से 'मित्रो मरजानी' सरीखे उपन्यास को नारीवादी उपन्यास की संज्ञा देना निःसंदेह डॉ. कायनात काजी की व्यापक समझ और सजग अध्येयता होने का परिचायक है। 60 के

दशक में लिखा जा रहा यह उपन्यास कोई फैन्टसी नहीं बल्कि स्त्री जीवन और उसके देह से जुड़ी पारंपरिक जकड़न पर कड़ा हस्तक्षेप था। अब तक फैन्टसी एवं रोमांटिसिज्म के चश्में से देखे और लिखे जा रहे स्त्री विमर्श के बरक्स साठ के दशक की तत्कालीन परिस्थितियां अकेले कृष्णा सोबती को ही नहीं दुनिया भर की तमाम महिला लेखकोंधचिंतकों को स्त्री देह और उसके जीवन से जुड़े यथार्थ को स्त्रीवादी दृष्टिकोण से लिखने के लिए उद्वेलित कर रही थीं। केट मिलेट की 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स', बेट्टी फ्रीडेन की 'फेमिनाइन मिस्टेक' एवं जर्मेन ग्रीयर की 'फीमेल यूनक' आदि इसी दौर की प्रमुख पुस्तकें हैं। जिन्होंने एक नए विमर्श को जन्म देते हुए बहुत सारे बुद्दिजीवियों और पुरातनपंथियों का ध्यान आकर्षित किया। इस दौर का महिला लेखन प्रतिरोध की जमीन भी तैयार कर रहा था।

हाल ही बेस्ट हिंदी ब्लॉगर के अवार्ड से सम्मानित डॉ. काजी के साथ हिंदी के प्रथम ट्रेवल फोटोग्राफी ब्लॉग 'राहगीरी' का नाम भी जुड़ा है। साहित्य की विद्यार्थी रही कायनात जी की यह पुस्तक पढ़ते हुए बिलकुल भी नहीं लगा कि उनकी साहित्य के प्रति रुचि और समझ में कोई कमी है। भाषा की सरलता, लेखनी की कसावट एवं तथ्यों की सटीकता लेखकीय कुशलता को दर्शाता है। युवा महिला ब्लॉगर, ट्रेवल फोटोग्राफर, कहानीकार डॉ. कायनात काजी निश्चित तौर पर वर्तमान पीढ़ी के लिए प्रेरणा स्रोत भी हैं। यह पुस्तक वाकई कृष्णा सोबती और उनके कथा साहित्य में रुचि रखने वाले पाठकों को आकर्षित करती है।

कृष्णा सोबती के जीवन और इतने विस्तृत कथा संसार में मर्दवादी सामंती ठसक एवं घोषित–अघोषित सामाजिक वंचनाओं के बीच रच बसने वाली एक समूची पीढ़ी की जीवंत दास्तां को 21वीं सदी के पाठकों तक सरलतम ढंग से पहुंचाने हेतु लेखिका ने छः भिन्न मापदण्डों की सामूहिक हिस्सेदारी को पुस्तक का रूप दिया है। उनके जीवन, समकालीन परिवेश और साहित्य सृजन से जुड़ी तमाम रोचक एवं जरूरी बातों को कायनात जी ने इस पुस्तक में जुटाने की ईमानदार कोशिश की है। पुस्तक के हवाले से सोबती जी का एक साक्षात्कार, 'शायद मेरे अंदर एक ठंढी औरत और एक गरमाहट भरा लेखक एक साथ मौजूद है' उनकी लेखिकीय प्रतिबद्धता को बखूबी बयां करता है। यह वह स्वयं नहीं भूलतीं और न किसी अन्य को भूलने देती हैं कि वह पृथ्वी के अंतिम छोर तक महिला रहेंगी, एक परिनिष्ठित संभ्रांत महिला! कृष्णा सोबती जैसी कथाकार के व्यक्तित्व की इतनी सटीक व्याख्या डॉ. काजी की पुस्तक में मिलती है। कृष्णा सोबती के साहित्य और समाज पर लिखी गई पुस्तक में इस बात

के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि, कृष्णा सोबती का कथा–साहित्य स्त्री लेखन को नए क्षितिज पर लाते हुए तमाम दकियानूसी मान्यताओं को खारिज करता है। ब्रिटिश हुकूमत, बंटवारे की त्रासदी एवं आपात काल से लेकर आज तक की तमाम आर्थिक–सामाजिक और राजनैतिक उथल–पुथल की साक्षी रहीं कृष्णा सोबती के यहां हिंदी पट्टी की तथाकथित फैन्टसी अथवा बनावटीपन की जगह न के बराबर है। उनकी नायिकाएं अपना जीवन अपनी शर्तों पर जीती हैं। पुस्तक के हवाले से कहें तो पारंपरिक शिल्प और मूल्यों को चुनौती देते हुए स्त्री को स्त्री की दृष्टि से देखने–समझने की नई लेखन परंपरा को विस्तार देना कृष्णा सोबती जी के साहित्य सृजन की कसौटी है। 'सूरजमुखी अँधेरे के' उनके अन्य उपन्यासों से नितांत भिन्न और गंभीर है। इसके जरिये शिल्प के सालों पुराने सांचे–ढांचे को तोड़ा गया है। 'तिन पहाड़' की कुछ कमजोरियां हैं तो जिंदगीनामा जैसे कालजयी उपन्यास की तमाम रोचक बातों की सटीक व्याख्याएं इस पुस्तक को पढ़ डालने के लिए प्रेरित करती हैं।

कृष्णा सोबती के कथा साहित्य में सामाजिक विश्लेषण के तत्वों की परख करते हुए डॉ. काजी 'मित्रो मरजानी' के इस वाक्य 'अम्मा! मां बेटे मिल, छील–छाल मित्रो का आचार क्यों नहीं डाल देते?' से स्पष्ट करती हैं कि, किस प्रकार इनकी नायिकाओं में भारतीय पारिवारिक ढांचे में स्त्री की पीड़ा और उसके प्रतिरोध का स्वर एक साथ सामने आता है। 'डार से बिछुड़ी' में एक साथ सामाजिक सम्मान की कीमत चुकाती एक लड़की और पुरुषवादी वर्चस्व की ठसक दिखाई पड़ती है। परिवार, धर्म, परम्परा, जातीय जटिलताएं एवं सांस्कृतिक मूल्यों की कसौटी पर डॉ. कायनात काजी सोबती जी की रचनाओं में सामाजिक विश्लेषण के तत्वों को बखूबी इस पुस्तक के माध्यम से सामने लाती हैं। समाज में वर्ग आधारित अंतरसंबंधों, उनकी जटिलताओं और रुतबेदारी की जीवंत कहानियां कृष्णा सोबती के यहां मिलती हैं। सोबती जी वर्गबोध की गहरी समझ का प्रयोग अपने पात्रों के चयन में कितनी सावधानी पूर्वक करती हैं, इसका जिक्र इस पुस्तक में मिलता है। कई बार जिन पर पूरे घर को सम्हालने व व्यवस्था तक का पूर्ण उत्तरदायित्व रहता है फिर भी उनकी हैसियत एक नौकर अथवा काम वाली से अधिक कभी नहीं बन पाती। यह निम्न वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका के साथ–साथ उनकी पहचान और जीवन की जटिलता को एक साथ दर्शाता है। जो कृष्णा जी की कहानियों में भी झलकता है।

औद्योगीकरण, नगरीकरण के साथ–साथ बढ़ती आधुनिकता के प्रभावस्वरूप भारतीय समाज में शहरी–गैर शहरी जीवन की संरचनाओं उनकी पृष्ठभूमि तथा उत्तरदायित्वों के स्तर पर हो रहे बदलाओं को कृष्णा सोबती जी के कथा साहित्य में देखा जा सकता है। कृष्णा सोबती अपनी रचनाओं एवं पात्रों के माध्यम से पारिवारिक संबंधों में आ रहे बदलाओं की चुनौतियों और जटिलताओं को भी दर्शाती हैं। जिसका बहुत ही सरल और तर्कसंगत विश्लेषण इस पुस्तक के जरिये पढ़ने–समझने को मिलता है। सोबती जी ने आधुनिक एवं विकासवादी दृष्टि व सोच के मद्देनजर समाज के यथार्थ का वास्तविक चित्र अपनी रचनाओं में उकेरा है। सेक्स, यौनिकता जैसे संवेदनशील मुद्दों पर नारीवादी दृष्टिकोण से जिस बेबाकी से कृष्णा सोबती के यहां लिखा गया है शायद ही हिंदी पट्टी के दूसरे रचनाकर ने लिखा हो। यौनिकता, प्रेम और स्त्री के निजी जीवन से जुड़ी तमाम अनसुनी–अनकही बातों को पूरी तटस्थता के साथ सोबती जी के लेखन में शामिल किया जाना, वाकई महिलाओं की अनंत पीड़ा और संघर्ष की दास्तां कही जा सकती है। डॉ. काजी ने इस पुस्तक के माध्यम से कृष्णा सोबती के सम्पूर्ण रचना संसार की शोध यात्रा करते हुए एक महत्वपूर्ण दस्तावेज तैयार किया है। डॉ. कायनात जी यह पुस्तक पढ़ते हुए ऐसा आभास होता है कि, कृष्णा सोबती जैसी महान कथा शिल्पी के जीवन से जुड़े पहलुओं एवं उनके रचना संसार का चलचित्र आँखों के सामने से गुजर रहा हो। भाषा शैली, विश्लेषण की व्यापकता और लेखन की तारतम्यता पुस्तक की समग्रता को प्रतिबिम्बित करती है।

एक जिंदगी और उसकी तमाम हरकतों को पोर–पोर से अपनी रचना में उतारने वाली हिंदी की अद्वितीय कथा लेखिका कृष्णा सोबती जी की लगभग समूची रचनाओं को सामाजिक यथार्थ की कसौटियों पर परखने और विश्लेषित करने का श्रेय निश्चित तौर पर डॉ. कायनात काजी को जाता है। डॉ. काजी की ईमानदार कोशिश का भौतिक स्वरूप 'कृष्णा सोबती का साहित्य और समाज' के रूप में हमारे सामने है। निःसंदेह कृष्णा सोबती पर लिखी गयी अपने प्रकार की यह पहली पुस्तक है। यह उन लोगों के लिए महत्वपूर्ण और पठनीय पुस्तक है, जो कृष्णा सोबती के साहित्य में रुचि रखने वालों, हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों–शोधार्थियों खासकर उनके लिए जो कृष्णा सोबती जी के कथा साहित्य पर शोधरत हैं अथवा शोध करना चाहते हैं।

ई–मेल manojkumar07gupta@gmail.com

मैं हारी नहीं

दीपमाला त्रिपाठी

तुमने मुझे जला दिया
मेरा चेहरा, मेरा शरीर गला दिया,
सोचा कि हार जाउंगी ,नहीं खड़ी हो पाउँगी
पछताउँगी कि तुम्हें " न " क्यूं कहा
नहीं बता पाउँगी कि तुमने ऐसा क्यूं किया
लेकिन तुम भूल गये
मेरी ताकत , मेरी शक्ति ,मेरे चेहरे में या मेरे सुडौल शरीर में नहीं बसती हैं
वह कहॉ हैं ? यह तुम या तुम्हारें जैसी सोच वाले लोग कभी नही जान पायेगें
तुम्हें लगा होगा मुझे घायल करके तुम जीत गये
पर नहीं तुम तब भी नही जीते थे जब तुम्हें मैंने " न " कहा था
और अब तो बिल्कुल नही
क्योंकि मेरे घाव, मेरा कुरूप चेहरा, मेरा बेडौल शरीर
मेरा बेखौफ मन, मेरी बुलन्द आवाज गवाह हैं
मेरी ताकत, मेरी जिजीविषा, मेरी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की और
मेरी फिर से उठ कर खड़ें होने,
अब तो तुम्हें समझ आ गया होगा कि स्त्री की
अस्मिता देह से परे हैं।

शोधार्थी पी.एच.डी मानवविज्ञान विभाग
फोन नं.83085128332
awasthi1905@gmail.com

दुनिया बदल गई.....

अनीश कुमार

काली रात के
अतल गहराइयों में
टिमटिमाता छोटा सा दिया
उसके झुरमुट में
बेनाम शख्स
एक अदद रोटी के इंतजार में
देहरी से सटकर बैठा है।
काली स्याह रात में
कुत्तों की आवाज
भूख के आगे बौनी हो गई है।
आंख लगातार बंद होने का इंतजार कर रही है
तभी कुछ हलचल होती है
आंख तुरंत उसी ओर गई
शायद कोई रोटी लेकर
सामने खड़ा था
वह शख्स जोर से उठ खड़ा हुआ
आवाज गायब थी
सामने कोई नहीं था
पेट लाचार था
आंखें बेबस थीं
सुबह हुई
दुनिया जैसे बदल गई
मौसम बदल गया
उसके सामने
अब नहीं थी समस्या
खाने की
क्योंकि आंखे बंद थी
पेट शांत था
वह अब इस दुनिया में
नहीं था।।।

Mob.9198955188
Email id: anishaditya52@gmail.com